# निदान चिकित्सा

नाड़ी परीक्षण



PULSE DIAGNOSIS

वात नाड़ी का परिचय




लक्षण :- तेज, संकुचित, क्षीण, शीत, अनियमित।

पित्त नाड़ी का परिचय




लक्षण :- उछाल युक्त, प्रबल, उष्ण, मध्यम, नियमित।



कफ नाड़ी का परिचय



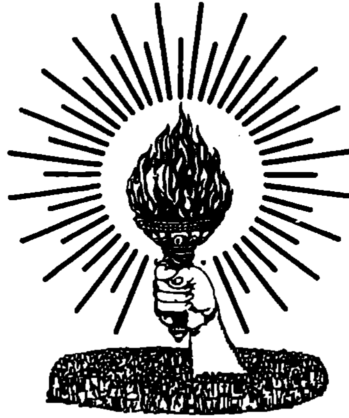

लक्षण :- धीमी, नर्म, नियमित, उष्णता लिए हुए।

-ब्रह्मवर्चस

# निदान चिकित्सा



लेखक
**ब्रह्मवर्चस**



**प्रकाशक**

**श्री वेदमाता गायत्री ट्रस्ट (TMD)**
**श्रीरामपुरम्, गायत्री नगर-शांतिकुंज, हरिद्वार**
**(उत्तराखण्ड) पिन- 249411**



पुनरावृत्ति सन् 2014 मूल्य- 42/-

# निदान चिकित्सा

लेखक

**ब्रह्मवर्चस**

**प्रकाशक :-**
**श्री वेदमाता गायत्री ट्रस्ट ( TMD )**
श्रीरामपुरम्, गायत्रीनगर-शांतिकुंज, हरिद्वार (उत्तराखण्ड)

**पुनरावृत्ति सन्-2014**

**मूल्य - 42/-**

---

**सम्पर्क सूत्र :-**

**श्री वेदमाता गायत्री ट्रस्ट शान्तिकुञ्ज, हरिद्वार (उत्तराखण्ड) भारत**
**फोन**-(01334) 260602, 260309, 260328 **फैक्स**-260866
Internet:www.awgp.org Email:shantikunj@awgp.org

# विषय सूची



# निदान – चिकित्सा

## (सामान्य रोगों का परिचय एवं चिकित्सा)

**प्राक्कथन–**

**आतुरस्य रोगप्रशमनम्** इस आयुर्वेद शास्त्र के उद्देश्य की पूर्ति के लिए तीन महत्त्व के सूत्र ध्यान रखने योग्य हैं १. हेतु ज्ञान अर्थात् कारण (निदान) का ज्ञान, २. लिंग ज्ञान अर्थात् लक्षण ज्ञान, ३. औषध ज्ञान अर्थात् चिकित्सा ज्ञान ।

इन तीन सूत्रों में लिंग ज्ञान सर्वाधिक महत्त्व का है। शास्त्र वचन है– **रोग मादौ परीक्षेत तनोऽनन्तर मौषधम्।** इसी से रोग के स्वरूप का ज्ञान होता है और स्वरूप ज्ञान के पश्चात् ही हेतु और औषध की समीक्षा तथा व्यवस्था करने से रोगी के रोग का निवारण हो पाता है और चिकित्सक को निश्चित रूप से चिकित्सा में यश श्री मिलती है।

**रोगस्तु दोषवैषम्यम्** विषम हुए ये दोष जब धातुओं को दूषित करते हैं, तब दोष दूष्य सम्मूर्च्छना हो व्याधि की उत्पत्ति होती है। दोषों को समावस्था में लाना और संप्राप्ति भंग कर व्याधि का निराकरण करना ही चिकित्सा है। इसलिए दोष विपरीत और व्याधि विपरीत चिकित्सा क्रम में अपनाना पड़ता है। रोगी एवं रोग की परीक्षा के लिए निदान फलक का अनुशीलन अतीव आवश्यक है। यह जितना निर्दोष और सटीक होगा रोग विनिश्चित उसी अनुपान् में दोष रहित हो सकेगी। रोग का निदान अचूक होने पर चिकित्सा विज्ञान का आविष्कार हुआ है।

योग्य द्रव्यों और योग्य क्रमों को अपनाकर चिकित्सा देने पर रोगी रोगमुक्त हो स्वस्थ हो जाता है, अर्थात् चिकित्सा का उद्देश्य पूर्ण हो पाता है।

चिकित्सक को निदान शास्त्र एवं चिकित्सा विज्ञान का आयुर्वेद परख ज्ञान हो तो आयुर्वेदिक चिकित्सा देने में सरलता हो जाती है। इस उद्देश्य की आंशिक पूर्ति हो सके इस हेतु से, उपर्युक्त सूत्रों को ध्यान में रखते हुए, प्रस्तुत पुस्तक में शरीरस्थ विविध संस्थानों की रचना, क्रिया तथा तज्जन्य मुख्य रोगों का परिचय देते हुए, उनकी चिकित्सा का समयानुकूल संक्षिप्त विवरण देने का प्रयास किया गया है।

निदान से चिकित्सा के शिखर तक पहुँचाने में यह पुस्तक प्रथम सोपान का काम कर सकेगी, जिससे आगे बढ़ते हुए, भविष्य में चिकित्सा का अंतिम लक्ष्य प्राप्त करने में जिज्ञासु सफल हो सकें।

इसी आशा और विश्वास से इसका अनुशीलन करने वाले अवश्य लाभान्वित होंगे। योग्य परामर्श की अपेक्षा रखते हुए उन सभी लेखकों का हृदय से आभारी हूँ जिनकी पुस्तकों या लेखों से इन पुस्तक के लेखन कार्य में सहयोग प्राप्त हुआ है।

# ॥ प्रथमोऽध्यायः ॥

## निदान पंचक

**परिभाषा–** व्याधि का ज्ञान– निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय, सम्प्राप्ति के द्वारा होता है, इन पाँच साधनों को ही निदान पंचक की संज्ञा दी गयी है।

**निदानं पूर्वरूपाणि रूपाण्युपशयस्तथा।**

**सम्प्राप्तिश्चेति विज्ञानं रोगाणां पचधा स्मृतम॥** (मा.नि. पचनि. ४)

**निदान पंचक का महत्त्व–** निदान शब्द रोग विनिर्णय और रोग विनिर्णय के साधन, इन दोनों अर्थों का बोधक है।

बिना रोग परीक्षा किये, चिकित्सा कर्म को यदृच्छया करना, अनिश्चित फल वाला होता है। इसलिए शास्त्रकारों ने रोग ज्ञान को चिकित्सा का प्रथम सोपान बताया है। रोग ज्ञान का साधन होने से निदान पंचक की उपयोगिता सर्वोपरि है। पाँचों का अलग–अलग महत्त्व है और प्रयोजन है।

१. **निदान–** निदान, निमित्त, हेतु, आयतन, प्रत्यय, उत्थान और कारण ये परस्पर पर्यायवाची हैं।

१. निदान उत्पन्न और भावी रोग का ज्ञापक है। जैसे– मिट्टी खाने से वर्तमान पाण्डु रोग का और भविष्य में होने वाले कामला, कृमि आदि का भी ज्ञान होता है।

२. रोग की साध्यता और असाध्यता के ज्ञान में निदान सहायक होता है। अल्प निदान (हेतु) होने से रोग साध्य तथा अधिक होने से कष्ट साध्य या असाध्य होता है।

३. चिकित्सा का प्रारम्भ निदान परिवर्जन (कारण का परित्याग) से होता है। अतः निदान का ज्ञान न रहेगा, तो उसका त्याग करना कैसे सम्भव है? इसलिए निदान का ज्ञान आवश्यक है।

२. **पूर्वरूप–** मात्र निदान से रोग का निश्चय कर लेना सम्भव नहीं है; क्योंकि समान कारण से अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। जैसे– ज्वर और गुल्म का निदान समान है। अतः रोग निर्णय में पूर्वरूप की अपेक्षा होती है।

**कारण दो प्रकार के होते हैं–** १. सन्निकृष्ट, २. विप्रकृष्ट।

इनमें से जो कारण अधिक बलवान् होगा, उसी से रोग उत्पन्न होगा। जैसे– निकटवर्ती कारण ज्वर का है और दूरवर्ती कारण उरुस्तम्भ का है। ऐसी अवस्था में दूरवर्ती कारण बलवान् हो और निकटवर्ती कारण कमजोर हो, तो उरुस्तम्भ ही उत्पन्न होगा।

हेमन्त में संचित कफ बसन्त में सूर्य–ताप से संतप्त होकर कफज रोग उत्पन्न करता है। यहाँ सन्निकृष्ट कारण सूर्यताप है और विप्रकृष्ट कारण हेमन्त में कफ का संचय होना है। विप्रकृष्ट कारण बलवान होने से वह कफज रोग उत्पन्न करता है, जबकि सूर्यताप सन्निकृष्ट कारण है और उससे पित्त का प्रकोप होना चाहिए।

अतः वास्तविक निदान प्रत्यक्ष न होने पर रोग निर्णय के लिए पूर्वरूप आदि का ज्ञान आवश्यक है।

१. चिकित्सा में पूर्वरूप का विचार आवश्यक है। यदि पूर्वरूप का ज्ञान न हो, तो रोगों में पूर्वरूपावस्था में वर्णित उपचार नहीं किया जा सकेगा। जैसे– चरक ने ज्वर की पूर्वरूपावस्था में लघु भोजन अथवा अपतर्पण (लंघन) का विधान किया है। सुश्रुत ने वातिक ज्वर के पूर्वरूप में घृतपान कराने को कहा है।

२. रोग की साध्यता तथा असाध्यता का ज्ञान करने के लिए पूर्वरूप का ज्ञान आवश्यक है। जिस रोग में पूर्वरूप का ज्ञान होता है, वह साध्य तथा जिसमें समस्त पूर्वरूप हो, वह असाध्य होता है। जैसे– ज्वर में अथवा अन्य रोगों में बतलाये गये पूर्वरूप के सम्पूर्ण लक्षण वेग के साथ जिस व्यक्ति में पाये जाते हैं, उसकी मृत्यु निश्चित समझनी चाहिए।

३. सापेक्ष रोग निश्चय करने के लिए भी पूर्व रूप ज्ञान आवश्यक है। पूर्वरूप के अभाव में रक्त, पित्त, प्रमेह का सापेक्ष निदान नहीं हो सकेगा। इन दोनों का अलगाव पूर्वरूप से ही प्रकट होता है। जो मनुष्य प्रमेह रोग के पूर्वरूप के बिना ही हरिद्रा वर्ण तथा रक्त वर्ण का मूत्र त्याग करता है, उसे प्रमेह न समझकर रक्तपित्त जन्य विकार ही समझना चाहिए। जहाँ दो रोगों के लक्षण समान हों, वहाँ पूर्वरूप से भेद का ज्ञान होता है, अतः पूर्वरूप का ज्ञान आवश्यक है।

**३. रूप**– (क) निदान और पूर्वरूप के रहते हुए भी यदि रूप का वर्णन न किया जाय, तो रोग के सम्पूर्ण स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता और वास्तविक स्वरूप के ज्ञान के बिना समुचित प्रकार से चिकित्सा भी नहीं की जा सकती। अतः रूप का ज्ञान आवश्यक है।

(ख) रूप से रोग की साध्यासाध्यता का ज्ञान होता है, अतः साध्यासाध्यता के ज्ञान के लिए रूप का ज्ञान आवश्यक है।

१. चरक ने रूप के आधार पर सुखसाध्य रोग का लक्षण बतलाते हुए कहा है कि जिस रोग के हेतु, पूर्वरूप और रूप अल्प हों, दूष्य दोष के तुल्य गुणों वाला न हो, रोगी की प्रकृति रोग जनक दोष के समान न हो, तो वह रोग सुख साध्य होता है।

२. इसी प्रकार रोग के निदान, पूर्वरूप और रूप यदि मध्य बल हों तथा काल, प्रकृति और दूष्य, दोष के समान हों, तो रोग कष्ट साध्य होता है।

इसी प्रकार सन्निपात ज्वर में सम्पूर्ण लक्षण मिलते हैं, तो वह असाध्य होता है।

४. **उपशय–** जिन रोगों के लक्षण एक दूसरे से परस्पर मिलते– जुलते हों या किसी रोग का लक्षण स्पष्ट नहीं मिलता हो, तो उसके विशेष ज्ञान के लिए उपशय का ज्ञान आवश्यक है।

वात व्याधि और उरुस्तम्भ का सन्देह होने पर तैलाभ्यङ्ग से लाभ होने पर उरुस्तम्भ का निश्चय किया जाता है एवं ज्वरों का संदेह होने पर क्विनीन के प्रयोग से मलेरिया का निर्णय हो जाता है, क्योंकि मलेरिया होने पर वह क्विनीन से हट जायेगा।

५. **सम्प्राप्ति–** ऋतु या अहोरात्र का रोग पर प्रभाव आदि का सम्यक् ज्ञान हुए बिना किसी रोग की विकृति का ज्ञान नहीं होता और न तो सही प्रकार से उसकी चिकित्सा करना सम्भव है। इसलिए सम्प्राप्ति का ज्ञान आवश्यक है, जिससे रोगी की विकृति का यथावत् ज्ञान हो सके।

**विशेष–** दोषों की अंशांश कल्पना प्राधान्य, व्याधि बल तथा काल (ऋतु या अहोरात्र का रोग पर प्रभाव) का सम्यक् ज्ञान प्राप्त होता है। अंशांश कल्पना में दोषों का कौन गुण बढ़ जाता है, इसकी कल्पना की जाती है। व्याधि बल से रोग की तीव्रता, मृदुता एवं मध्य बल का पता लगता है। ऋतु, दिन, रात, प्रातः, सायं आदि से रोग का घटना–बढ़ना आदि से कार्य का पता चलता है।

## १. हेतु निरूपण

**हेतु पर्याय–** हेतु, निमित्त, कारण, निदान, योनि, प्रत्यय, कर्त्ता, मुख, प्रकृत ये हेतु अर्थात् निदान के पर्याय हैं।

**हेतु लक्षण** (निदान लक्षण)– जो मिथ्या आहार–विहार आदि बाह्य निमित्त कारण धातुओं में विषमता (क्षय या वृद्धि) उत्पन्न करके शारीरिक व मानसरोग उत्पन्न करें, उनको तथा विष,शस्त्र,अग्नि,अभिघात आदि जो बाह्य निमित्त कारण साक्षात् (आरम्भ में बिना धातु वैषम्य उत्पन्न किये ही)आगन्तुक रोग उत्पन्न करें, उनको हेतु या निदान कहते हैं।

**हेतु प्रकार–** (क) चार प्रकार का निदान–

१. सन्निकृष्ट, २. विप्रकृष्ट, ३.व्यभिचारी, ४. प्राधानिक।

(ख) तीन प्रकार का निदान– १. असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग, २. प्रज्ञापराध, ३. परिणाम।

(ग) तीन प्रकार का निदान– १. दोष हेतु, २. व्याधि हेतु, ३. दोष व्याधि–उभय हेतु।

(घ) दो प्रकार का निदान– १. उत्पादक, २. व्यन्जक। पुनःश्च।

(ङ) दो प्रकार का निदान– १. बाह्य, २. आभ्यंतर।

**दोषतः (दोषावस्था के भेद से) निदान के भेद–**

(क) तीन प्रकार गति भेद से– १. क्षय, २.वृद्धि, ३. सम।

(ख) दो प्रकार– १. प्राकृत, २. वैकृत

(ग) पुनः दो प्रकार– १. अनुबन्ध्य, २. अनुबन्ध

(घ) पुनः दो प्रकार– १. प्रकृति, २. विकृति।

(ङ) एक प्रकार– १. आशयापकर्ष।

**क. सन्निकृष्टादि भेद से हेतु चार प्रकार के होते हैं। यथा–**

१. सन्निकृष्ट, २.विप्रकृष्ट, ३. व्यभिचारी, ४. प्राधानिक।

**१. सन्निकृष्ट हेतु–** दिन, रात तथा भोजन के आदि, मध्य और अन्त में क्रमशः कफ, पित्त और वायु का प्रकोप होता है। इस प्रकोप के लिए संचय की आवश्यकता नहीं होती। यह स्वभावतः होता है, यह सन्निकृष्ट निदान है। आघात जन्य रोग सन्निकृष्ट हेतु से होता है।

**२. विप्रकृष्ट हेतु–** हेमन्त ऋतु में संचित कफ वसन्त ऋतु में प्रकुपित होकर कफज रोगों को उत्पन्न करता है, यह विप्रकृष्ट निदान है। उदाहरण– ज्वर का सन्निकृष्ट हेतु मिथ्या–आहार–बिहार तथा विप्रकृष्ट हेतु रुद्र प्रकोप है। जीवाणु के शरीर में प्रवेश से लेकर रोगोत्पत्ति होने तक के समय को संचय काल कहते हैं। अतः जीवाणु जन्य रोग विप्रकृष्ट जन्य होते हैं।

**३. व्यभिचारी हेतु–** जो कारण दुर्बल होने से रोग उत्पन्न करने में असमर्थ हो, उसे व्यभिचारी हेतु कहते हैं। शरीर में जीवाणु का वर्तमान रहने से रोग उत्पन्न नहीं होता है, बल्कि रोग प्रतिरोधक क्षमता की कमी हो जाने पर ही रोग उत्पन्न होता है।

**४. प्राधानिक हेतु–** उग्र स्वभाव के कारण शीघ्र ही दोषों को प्रकुपित कर रोग को उत्पन्न करने वाला हेतु 'प्राधानिक' कहा जाता है। जैसे विष आदि।

**(ख) असात्म्येन्द्रियार्थ आदि भेद से हेतु तीन प्रकार के होते हैं– यथा–** १.असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग, २. प्रज्ञापराध, ३. परिणाम।

**१. असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग–** इन्द्रियों से हीन, मिथ्या एवं अतियोग करना असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग कहलाता है। जैसे– आँख से अति चमक वाले वस्तु को

देखना अतियोग, आँख को पूर्ण बन्द रखना या नहीं देखना अयोग, अतिसूक्ष्म भयंकर वीभत्स, अति दूर वाली वस्तुओं को देखना मिथ्या योग है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों का भी उदाहरण है। इससे रोग उत्पन्न होते हैं। कर्मेन्द्रियों के उदाहरण में पैर को लें। अधिक चलना अतियोग, सर्वदा न चलना अयोग एवं विषम मृदु कर्कश भूमि पर चलना मिथ्या योग है। इसी प्रकार अन्य कर्मेन्द्रियों का भी हो सकता है। अतः रोगोत्पादन में इन्द्रियों का अयोग, अतियोग और मिथ्या योग होना भी प्रमुख हेतु है।

२. **प्रज्ञापराध–** बुद्धि, स्मृति एवं धैर्य के नष्ट हो जाने पर मनुष्य जो कार्य करता है, उसे प्रज्ञापराध कहते हैं। प्रज्ञापराध भी रोग का कारण बनता है। मिथ्या आहार–विहार से रोगों का उत्पन्न होना भी प्रज्ञापराध है। सभी संक्रामक रोग एवं यौन रोगों का कारण भी प्रज्ञापराध ही होता है। प्रज्ञापराध भी तीन प्रकार का होता है। यथा– शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक।

**धीघृति स्मृति विभ्रष्टः कर्मयत् कुरुतेऽशुभम्।**
**प्रज्ञापराधं तं विद्यात्सर्वदोष प्रकोपणम् त्रिविधं॥** (च.सू. १।१०२)

३. **परिणाम–** काल को ही परिणाम कहते हैं, क्योंकि काल ही सभी प्रकार के अच्छे बुरे कर्मों को धर्म–अधर्म रूप में परिणत कर यथा समय उनका फल देने वाला होता है।

**कालः पुनः परिणाम उच्यते।** च.सू. ११–४२

शीत, उष्ण और वर्षा ऋतु के अयोग, अतियोग एवं मिथ्या योग से ही रोगों की उत्पत्ति होती है। जैसे– शिशिर ऋतु में शीत का कम होना हीन योग, अधिक शीत पड़ना अतियोग एवं कदाचित उष्ण होना मिथ्या योग है।

**कालार्थ कर्मणां योगहीन मिथ्यातिमात्रकः।**
**सम्यग्योगश्च विज्ञेयो रोगारौग्यैक कारणम्॥**

**(ग) दोष हेतु–** व्याधि भेद से हेतु तीन प्रकार के होते हैं। यथा– १.दोष, २.व्याधि, ३. दोष व्याधि–उभय दोष।

१. **दोष हेतु–** दोषों का संचय, प्रकोप एवं प्रशम कराने वाले स्वभावतः उत्पन्न मधुर आदि रस 'दोष हेतु' कहे जाते हैं। जैसे शिशिर तथा हेमन्त ऋतु में स्वभाव से मुधर रस की उत्पत्ति होती है तथा इस रस से कफ का संचय होता है। वसन्त ऋतु में सूर्य की उष्मा से इस संचित कफ का प्रकोप होता है।

२. **व्याधि हेतु–** दोषों को प्रकुपित करने पर भी इनके द्वारा विशिष्ट व्याधि उत्पन्न होती है। जैसे– मृद भक्षण दोषों को प्रकुपित करके भी पाण्डु रोग उत्पन्न करते हैं।

**३. दोष व्याधि–उभय हेतु–** दोष और व्याधि के प्रकोपक कारणों को भय हेतु कहते हैं। जैसे– हाथी, ऊँट तथा घोड़ों पर चढ़ने से वात की वृद्धि होती है तथा विदाही अन्न के सेवन से पित्त और रक्त की वृद्धि होती है। लटके हुए अंगों की संधियों में इसका प्रभाव पड़ता है। अतः उभय की विपरीत चिकित्सा करानी पड़ती है।

**(घ) उत्पादक एवं व्यंजक भेद से हेतु दो प्रकार का होता है–**

**१. उत्पादक–** (Predisposing) हेमन्त ऋतु में उत्पन्न मधुर रस कफ का उत्पादक हेतु होता है।

**२ व्यंजक हेतु–** (Exciting cause) हेमन्त में संचित कफ वसन्त में सूर्य की गर्मी से द्रुत (पिघल कर) होकर कफज रोगों को प्रकट करता है। अतएव सूर्य सन्ताप कफ का व्यंजक कारण होता है।

**(ङ) बाह्य और आभ्यन्तर भेद से हेतु दो प्रकार के होते हैं–** १. बाह्य हेतु, २.आभ्यन्तर हेतु।

**१. बाह्य हेतु–** मनुष्य के शरीर के बाहर की परिस्थितियाँ जो शरीर में रोग उत्पन्न करती हैं, उसे बाह्य कारण कहते हैं, जैसे– आहार–विहार, काल, जीवाणु, आघात एवं कीटों के विष आदि।

**२. आभ्यन्तर हेतु–** शरीर के अन्दर दोष, धातु एवं मल प्रकुपित होकर जो रोग उत्पन्न करते हैं, उन्हें आभ्यन्तर कारण कहते हैं।

**(क) गति भेद से हेतु तीन प्रकार के होते हैं।**

**१. दोष की गति–** १.क्षीण, २. वृद्ध, ३.समभेद से तीन प्रकार की होती है। ये गतियाँ दोषों की विशिष्ट अवस्थाओं का सूचक है।

**२. प्रकारान्तर से दोषों की गति–** १. उर्ध्व, २. अधः, ३. तिर्यक भेद से तीन प्रकार की होती है। इससे भी दोषों की दिशा का ज्ञान होता है।

**३. आश्रयों के भेद से भी दोषों की गति तीन प्रकार की होती है।** १. कोष्ठ, २. शाखा (रक्तादि, धातु और त्वचा), ३. मर्मास्थि सन्धि। इससे भी दोषों के स्थान संश्रय का ज्ञान होता है।

कोष्ठ, शाखा आदि में गये हुए दोषों का ज्ञान आवश्यक है। यह ज्ञान चिकित्सा वैशिष्ट्य के लिए उपयोगी है, क्योंकि भिन्न–भिन्न कोष्ठ या धातुओं में दोष की उपस्थिति होने पर भिन्न–भिन्न चिकित्सा होती है।

**(ख)प्राकृत दोष एवं विकृत दोष जो उत्पन्न होते हैं, उन्हें नीचे लिखा जा रहा है।**

| **ऋतु** | **प्राकृत दोष** |
|---|---|
| वसन्त | कफ |
| शरद् | पित्त |
| वर्षा | वात |

| **ऋतु** | **विकृत दोष** |
|---|---|
| वसन्त | पित्त वायु |
| वर्षा | पित्त, कफ |
| शरद् | कफ, वायु |

**दोषतः (दोषावस्था व भेद से) निदान के भेद। यथा–** १. अनुबन्ध्य, २.अनुबन्ध।

**१. अनुबन्ध्य–** जो दोष स्वतंत्र (अन्य दोष निरपेक्ष) हो, जिसके लक्षण स्पष्ट रूप से व्यक्त हों, जिसका प्रकोप और प्रशमन शास्त्रोक्त (स्वप्रकोपक से प्रकोप और उसके विपरीत से शमन) रीति से होता हो, उसे अनुबन्ध्य या प्रधान कहते हैं।

**२. अनुबन्ध–** जो दोष परतंत्र (अन्य दोष की अपेक्षा करने वाला अर्थात् प्रधान दोष के प्रकोप से प्रकुपित एवं उसके शमन से शान्त होने वाला) हो, जिसके लक्षण स्पष्ट न हों एवं जिसका प्रकोप तथा प्रशमन शास्त्रोक्त या अप्रधान कहते हैं। उदाहरण– शरद ऋतु में पित्त का प्रकोप होना शास्त्रोक्त है। परन्तु वर्षा ऋतु में अम्लपाक होता है, वही शरद ऋतु में पित्त प्रकोप का कारण है। वह कफ को भी थोड़ा उत्पन्न करता है। अतः पित्त शमन की चिकित्सा तिक्त घृत आदि है, जो शास्त्रोक्त है। अतएव इसी से कफ का भी प्रशमन हो जाता है। यहाँ पित्त प्रधान या अनुबन्ध्य है। कफ अप्रधान या परतंत्र है।

**(घ) प्रकृति–विकृति भेद से–दो प्रकार–**

१. प्रकृति– जिस व्यक्ति की जो दोष प्रकृति है, उसी दोष से उसे होने वाला रोग अर्थात् प्रकृति सदृश दोषजन्य रोग प्रकृति जन्य कहलाता है। ऐसा रोग प्रकृत सदृश होने से कष्ट साध्य है। जैसे– वात प्रकृति वाले व्यक्ति का वात रोग कष्ट साध्य होता है।

**२. विकृति–** मिथ्या आहार–विहार से व्यक्ति की अपनी प्रकृति से अन्य किसी दोष के पुष्ट होने से होने वाला रोग (प्रकृति विसदृश दोष जन्य व्याधि) विकृति जन्य कहलाता है। जैसे– वात प्रकृति वाले को पित्त या कफ से होने वाला

रोग। ऐसा प्रकृति विसदृश दोष से उत्पन्न सुखसाध्य होता है एवं कफ प्रकृति का कफज रोग कष्ट साध्य होता है।

रोगी की प्रकृति दोषों के अनुसार या देह प्रकृति सात प्रकार की होती है– १. वातिक, २. पैत्तिक, ३. श्लैष्मिक, ४.वात पैतिक, ५. वात–श्लैष्मिक, ६. पित्त–श्लैष्मिक, ७. समवात पित्तकफ प्रकृति।

**(ङ) आशयापकर्ष हेतु–** दोषों का स्थान नियत है। कभी–कभी दोष अपना स्थान छोड़कर दूसरे स्थान पर चले जाते हैं। ले जाने का काम प्रकुपित वात ही करता है। अतः इसे आशयापकर्ष कहते हैं। चिकित्सा की दृष्टिकोण से इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। जब पित्त प्रकृतिस्थ रहता है और कफ का क्षय हो जाता है तथा वायु प्रकुपित होकर पित्त को दूसरे स्थान पर ले जाता है और वहाँ भेदनवत् पीड़ा, दाह, श्रम, दुर्बलता आदि लक्षण दिखाई पड़ते हैं। अतः ऐसी अवस्था में वृद्ध पित्त की चिकित्सा करने से रोग की वृद्धि ही होती है, शमन नहीं होता है। **विरेकः पित्त हराणाम** चिकित्सा यहाँ पर नहीं होगी। अपितु वात, शमन एवं दोष को स्वस्थान में लाने का उपक्रम करना चाहिए।

**विशेष–** दोष कोष्ठ, शाखा एवं मर्मास्थि सन्धियों में जाकर रोग उत्पन्न करता है। कोष्ठ ये हैं– १. वाताशय, २. पित्ताशय, ३. श्लैष्माशय, ४. रक्ताशय, ५.आमाशय, ६. पक्काशय, ७. मूत्राशय, ८. स्त्रियों में अष्टम् आशय गर्भाशय।

रक्त, मांस, मेद, मज्जा, अस्थि, शुक्र एवं त्वचा को शाखा कहते हैं।

## २. पूर्वरूप

**पूर्वरूप लक्षणम्–** रोगों की उत्पत्ति होने के पूर्व जो भावी व्याधि का लक्षण मिलता है, उसे पूर्वरूप कहते हैं। पूर्व (प्राक्)+रूप= लक्षण के पूर्व अर्थात् व्यक्त होने के पहले भावी व्याधि का चिह्न। वात, पित्त और कफ दोष जब शरीर के किसी स्थान पर आश्रयित हो जाते हैं, तब भविष्य में होने वाले रोग की सूचना जिन लक्षणों से देते हैं, उसे पूर्वरूप कहा जाता है। इसके दो भेद हैं– १. सामान्य पूर्वरूप, २. विशिष्ट पूर्वरूप।

**सामान्य पूर्वरूप–** ज्वर, अतिसार इत्यादि रोग उत्पन्न होने वाला है; किन्तु वात, पित्त, कफ इनमें से किस दोष से उत्पन्न होने वाला है, इसका ज्ञान न होकर केवल रोग सामान्य का ज्ञान मालूम हो, उसे सामान्य पूर्वरूप कहते हैं, जैसे– थकावट, बेचैनी, नयनप्लव, शीतवात्, धूप की इच्छा एवं कमी, अनिच्छा, जंभाई, अंगमर्द आदि।

**विशिष्ट पूर्वरूप**– जिन लक्षणों से वात, पित्त और कफ दोषों से उत्पन्न होने का ज्ञान हो, उसे विशिष्ट पूर्वरूप कहते हैं। जैसे– वात ज्वर के पूर्व रूप में जंभाई आना, पित्त ज्वर के पूर्वरूप में आँखों में जलन होना, कफज ज्वर के पूर्वरूप में अन्न के प्रति अरुचि।

## ३. रूप

**रूप पर्याय**– संस्थान, व्यंजन, लिंग, लक्षण, चिह्न और आकृति ये रूप के पर्याय हैं।

**रूप लक्षण**– पूर्वरूपावस्था में अव्यक्त लक्षण ही जब व्यक्त होकर व्याधि का बोध कराते हैं, तब उन्हें 'रूप' कहते हैं। जैसे– ज्वर में जब सन्ताप आदि लक्षण पूर्णरूपेण प्रकट हो जाते हैं, तब उन्हें ज्वर का रूप कहते हैं।

रूप भी दो प्रकार का होता है– १. विशिष्ट, २. सामान्य।

विशिष्ट रूप को आत्मरूप या प्रत्यात्म लक्षण कहते हैं। यह लक्षण अपने रोग में अवश्यम्भावी है, क्योंकि बिना उस लक्षण के उस रोग का वह नाम नहीं दिया जा सकता। जैसे– ज्वर का सन्ताप प्रत्यात्म लक्षण है, क्योंकि बिना सन्ताप हुए ज्वर हो ही नहीं सकता। इसी तरह गुदा से अधिक मात्रा में द्रव पुरीष का निःसरण होना अतिसार का प्रत्यात्म लक्षण है।

नियत रूप से अनिवार्यतः उपस्थित रहने वाले उस रोग की आत्मा का प्रत्यात्म लक्षण अथवा आत्मरूप कहा जाता है।

**सामान्य रूप में** वे हैं जो सामान्यतः उस रोग में पाये जाते हैं। जैसे– स्वेदावरोध, अंगमर्द आदि ज्वर के सामान्य लक्षण हैं।

**रूप के दो विभाग किये गये हैं**– १. लक्षण, २. चिह्न।

**लक्षण** (Symptoms)– इसमें प्रश्न के द्वारा रोगी से रोग के बारे में जानकारी ली जाती है। जैसे– भूख, प्यास, मलमूत्र त्याग, श्वासकष्ट, निद्रा, स्वप्न आदि। रोगी अपने अनुभव से रोग की गाथा कहता है।

**चिह्न** (Signs)– इसमें देखा जाता है– श्वास गति, उदर एवं वक्ष की गति, मुख, नेत्र, जीभ, मल–मूत्र का रंग रूप, यकृतप्लीहा की वृद्धि, नाड़ी गति, हृदय एवं फुफ्फुस की प्राकृत एवं विकृत (अप्राकृत) ध्वनियाँ आदि। अधिक जानकारी के लिए दर्शन (Inspection), स्पर्शन(Palpation), ठेपन(Percussion), उरःश्रवण (Auscultation) तथा एक्स रे आदि किया जाता है।

**व्याधि और लक्षण**– लक्षण एक होता है। व्याधि लक्षणों का समूह होता है। लक्षण समूह को व्याधि कहा जाता है। लक्षण और व्याधि में अवयव एवं अवयवी का अन्तर है। जैसे– खदिर वृक्ष एवं खदिर वृक्षों का वन में अन्तर है।

प्रत्येक रोगों में अनेक लक्षणों का समूह होता है। उस समूह में से एक-एक लक्षण अनेक रोगों में मिल सकता है।

जब कोई विकार प्रधान होता है, तब वह रोग और विकार अप्रधान होकर किसी अन्य विकार का अनुगामी और व्यंजक होता है, तब लक्षण कहलाता है। जैसे- सन्ताप जब विकार होता है, तब ज्वर रोग और यह सन्ताप यक्ष्मा आदि में अनुगामी और व्यंजक होता है, तब लक्षण कहलाता है। चरक के शब्दों में-

**व्याधयस्ते यदात्वेतु लिंगानीष्टानि नामयाः** (च.नि. ८/४०)

मधुकोष ने कहा है कि- **अरुच्यादयस्तु स्वरूपेणविकारा एवं मदाऽन्य-प्रतिपादकास्तदालिंगान्युच्यन्ते।**

**व्याधि और लक्षणविभेद-बोधक सारणी**

| लक्षण | व्याधि |
|---|---|
| १. एक लक्षण | १. लक्षणों का समूह |
| २. अवयव | २. अवयवी |
| ३. अप्रधान | ३. प्रधान |
| ४. अनुबन्ध | ४. अनुबन्ध्य |
| ५. अनुगामी | ५. अनुगत |
| ६. व्यंजक | ६. व्यंजमान |

## ४. उपशय

किसी व्याधि जनित विकार को दूर करने के उपाय को उपशय कहते हैं। एवञ्च औषध, अन्न तथा आहार के परिणाम में सुखकारक उपयोग को उपशय कहते हैं।

जिस पदार्थ का उपयोग अन्ततोगत्वा परिणाम में सुखावह हो, वही उपशय है। दाह और तृष्णा से युक्त नव ज्वर में रोगी को शीतल जल पिलाना तत्काल सुखकारक होते हुए भी परिणाम में दुःखकारक होने से उपशय नहीं है। इस प्रकार क्षणिक सुखकर शब्द स्पर्श-रूप, रस, गन्ध आदि तादात्विक सुख जनक भले ही प्रतीत होते हैं; किन्तु इनका अन्तिम परिणाम सुखानुबन्धी न होने से ये उपशय नहीं कहे जा सकते।

चरक ने हेतु विपरीत, व्याधि विपरीत, हेतु व्याधि विपरीत और हेतु विपरीतार्थकारी, व्याधि विपरीतार्थकारी, हेतु व्याधि विपरीतार्थकारी औषध, अन्न तथा विहार के सुखानुबन्धी उपयोग को उपशय कहा है।

उपशय ६ प्रकार के होते हैं। यथा– १. हेतु विपरीत, २. व्याधि विपरीत, ३. हेतु व्याधि विपरीत, ४. हेतु विपरीतार्थकारी, ५. व्याधि विपरीतार्थकारी, ६.हेतु व्याधि विपरीतार्थकारी।

जब ये छः प्रत्येक १. औषध, २. अन्न और ३. विहार के विशेषण होते हैं, तब हेतु विपरीत औषध आदि भेद से उपशय के अवान्तर १८ प्रकार के होते हैं।

१] हेतु विपरीत औषध
२] हेतु विपरीत अन्न
३] हेतु विपरीत विहार
४] व्याधि विपरीत औषध
५] व्याधि विपरीत अन्न
६] व्याधि विपरीत विहार
७] हेतु व्याधि विपरीत औषध
८] हेतु व्याधि विपरीत अन्न
९] हेतु व्याधि विपरीत विहार
१०] हेतु विपरीतार्थकारी औषध
११] हेतु विपरीतार्थकारी अन्न
१२] हेतु विपरीतार्थकारी विहार
१३] व्याधि विपरीतार्थकारी औषध
१४] व्याधि विपरीतार्थकारी अन्न
१५] व्याधि विपरीतार्थकारी विहार
१६] हेतु व्याधि विपरीतार्थकारी औषध
१७] हेतु व्याधि विपरीतार्थकारी अन्न
१८] हेतु व्याधि विपरीतार्थकारी विहार

## ५. चिकित्सा और उपशय में भेद

रोगी व्यक्ति के धातु वैषम्य को दूर कर धातु साम्य लाने के लिए चतुष्पाद (वैद्य, औषध द्रव्य, परिचारक और रोगी) की जो प्रवृत्ति होती है, उसे चिकित्सा कहते हैं। चिकित्सा एक क्रिया की प्रक्रिया है, एक विधा है, एक आरोग्यकर कर्म है। चिकित्सा, साधन, व्याधिहर, पथ्य, औषध, प्रायश्चित, प्रशमन, प्रकृतिस्थापन, हित और भेषज ये चिकित्सा के पर्याय हैं। व्याधि हरणी क्रिया को चिकित्सा कहते हैं।

उपशय एक पद्धति है, एक प्रयोग है, जिसका चिकित्सा में उपयोग किया जाता है। इस प्रकार उपशय के दो कार्य हैं– १. व्याधि का ज्ञापन, २. चिकित्सार्थ प्रयोग। जैसे– व्याधि की सन्दिग्धावस्था में उपशय के द्वारा सापेक्ष रोग– निश्चित किया जाता है। आमवात तथा सज्वर सन्धिशोथ में सैलिसिलेट के प्रयोग से दोनों में विभेद किया जाता है, लाभ होने पर आमवात और लाभ न होने पर सन्धिशोथ जाना जाता है। इसी तरह अनिर्णित ज्वर में कुनीन के प्रयोग से लाभ होने पर मलेरिया और न होने पर अन्य ज्वर समझा जाता है।

इस प्रकार चिकित्सा और उपशय भिन्न होते हुए भी वाणी और अर्थ या जल और तरंग की तरह अभिन्न है। उपशय चिकित्सा की प्रक्रिया है, जिसके प्रयोग से चिकित्सा की जाती है।

## अनुपशय

औषध, अन्न एवं विहार का उपयोग करने से दुःखकर प्रतीत हो या रोग को बढ़ा दे, उसे अनुपशय कहते हैं। इसे व्याध्यसात्म्य भी कहते हैं।

**विपरीतोऽनुपशयो व्याध्यसात्म्यमितिस्मृतः।** (अ०हृ०नि.१)

**सम्प्राप्ति लक्षणम्–** दोष जिस प्रकार निदानों से दूषित (प्राकृत या वैकृत) होकर, जिस प्रकार (उर्ध्व आदि गतियों द्वारा शरीर में) विसर्पण करते हुए (धातु आदि को दूषित कर) रोग को उत्पन्न करता है, उसे सम्प्राप्ति कहते हैं। व्याधि के आभ्यन्तर दोष–दूष्य–विकृति क्रम को सम्प्राप्ति कहते हैं। सम्प्राप्ति, जाति और अगति ये एकार्थ वाची है।

**लक्षण–** संचित वातादि दोष प्रकुपित होकर एक–एक, दो–दो या सब मिलकर शरीर में प्रसरण करते हुए सारे शरीर में या शरीर के किसी एक आशय (आमाशय,पक्वाशय, यकृत, प्लीहा, मस्तिष्क, फुफ्फुस, हृदय, वृक्क, वस्ति, गर्भाशय, त्वचा आदि स्थान) विशेष में आश्रित होकर तथा रस, रक्त आदि धातु स्तन्य आर्तव आदि उपधातु और मूत्र, स्वेद, पुरीष आदि मल, इनमें से एक या दो अनेकों को दूषित कर अमुक लक्षणों वाला, अमुक नाम तथा अमुक प्रकार के रोग को उत्पन्न किये, इस प्रकार का दोष व्यापार विशेष युक्त जो व्याधिजन्य होता है, उसको सम्प्राप्ति कहते हैं।

## सम्प्राप्ति के छः भेद हैं

१. संख्या, २. प्राधान्य, विधि, विकल्प तथा बल एवं काल भेद से सम्प्राप्ति के ६ भेद हैं।

वाग्भट्ट और कविराज गणनाथ सेन ने विधि की संख्या में अन्तर्भाव मान कर विधि की पृथक् गणना नहीं की है।

**१. संख्या–** दोषदूष्य के संसर्ग से रोगों के कई प्रकार होते हैं, उसे संख्या सम्प्राप्ति कहते हैं। यथा– आठ ज्वर, आठ उदर रोग, छः अतिसार, पाँच कास, पाँच श्वास हिक्का, बीस प्रमेह कृमि रोग आदि।

**विशेष–** वातादि प्रत्येक से तीन, द्वन्दज तीन, सन्निपातज एक तथा आगन्तुज एक, इस प्रकार आठ ज्वर के भेद हैं। वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज और रक्तज भेद से गुल्म पाँच प्रकार का होता है। चरक सू. के १९ वें अध्यायमें संख्या भेद से होने वाले रोगों के अनेक उदाहरण हैं।

**२. विकल्प–** एक, दो या तीनों दोषों के वृद्धि और क्षय के अंशांशबल (सूक्ष्म विचार) को विकल्प कहते हैं।

**समवेतानां पुनर्दोषाणामंशांशबलविकल्प विकल्पोऽस्मिन्नेर्थ** (च.नि. १/५)

दोषों के अंशांश कल्पना में देखा जाता है कि वात के रूक्ष, शीत, लघु, विशद् आदि गुणों में किसकी वृद्धि हुई है। जैसे– कषाय रस एवं कलाय वायु के सर्वैर्भावैर्वर्धक (सर्वगुणवर्द्धक) है। तडुलीय रूक्ष, शीत, लघु गुणों से वातवर्द्धक है। काण्डेक्षु रूक्ष, शीत गुणों से वातवर्द्धक है। सीधु से रूक्ष गुण की वृद्धि होती है।

कटु रस एवं मद्य पित के सर्वैर्भावैर्वर्धक (सर्वगुणवर्द्धक) है। हिंगु कटु तीक्ष्ण एवं उष्ण से पित्त के समान गुणों को बढ़ाता है।

मधुर रस और महिष दूध कफ के सर्वगुण को बढ़ाता है। राजादान फल स्निग्ध, मधुर गुण होने से, क्षीरी वृक्षों के फल शीत होने से कफ के उन गुणों को बढ़ाता है।

**३. प्राधान्य–** प्राधान्य और अप्राधान्य ये दो सापेक्ष धर्म हैं। व्याधि में सम्बद्ध दोषों की स्वतंत्रता और परतंत्रता के आधार पर व्याधि की प्राधान्य या अप्राधान्य सम्प्राप्ति का निर्देश करना चाहिए।

(क) जैसे– यदि किसी रोग में सर्वप्रथम वात कुपित हुआ, बाद में कफ या पित्त कुपित हुए तो स्वतंत्र होने से वात का प्राधान्य माना जाता है।

(ख) सभी कारणों से प्रबल रूप में जो दोष कुपित होता है, उसका प्राधान्य माना जाता है।

(ग) जो रोग सर्वप्रथम उत्पन्न हो, उसका प्राधान्य माना जाता है। जैसे– ज्वर प्रथम हुआ, बाद में कास हुआ, तो स्वतंत्र होने से ज्वर का प्राधान्य और परतंत्र होने से कास का अप्राधान्य होता है। इसका लाभ चिकित्सा में यह होता है कि प्रधान की चिकित्सा से अप्रधान की चिकित्सा स्वयं हो जाती है। इस सिद्धान्त से प्रधान की चिकित्सा ही प्रमुख रूप से की जाती है और ऐसा करने से बाद में उत्पन्न व्याधि का भी प्रशमन हो जाता है।

**४. बल सम्प्राप्ति–** निदान, पूर्वरूप और रूपों की अधिकता अथवा अल्पता के कारण व्याधि के बलाबल का ज्ञान जिससे होता है, उसे बल सम्प्राप्ति कहते हैं। जब हेतु पूर्वरूप, रूप आदि सम्पूर्णतया किसी रोग में पाये जाते हैं, तब वह व्याधि प्रबल होती है और जब हेतु आदि अल्प होते हैं तब व्याधि अल्प बल होती है।

**५. काल सम्प्राप्ति–** रात्रि, दिन, ऋतु एवं भोजन से रोग की वृद्धि या हानि मालूम हो तो उसे काल सम्प्राप्ति कहते हैं। वर्षा में वात, शरद में पित्त, वसंत में कफ का प्रकोप होता है। दिन के प्रारम्भ में कफ, दोपहर में पित्त एवं सायंकाल में वायु की वृद्धि होती है। रात्रि के प्रथम प्रहर में कफ, आधी रात में पित्त एवं अन्तिम प्रहर में वायु की वृद्धि होती है। भुक्तावस्था (भोजन के बाद) कफ, पच्यमानावस्था में पित्त एवं पक्वावस्था में वायु की वृद्धि होती है। यदि इन कालों में रोग की वृद्धि या क्षय होता है, तब दोषों का पता आसानी से लगाया जा सकता है। वर्षा काल, सायं काल, रात के पिछले प्रहर एवं भोजन की पक्वावस्था में रोग के बढ़ने पर वात प्रधान रोग होगा। इस प्रकार अन्य दोषों को भी समझा जा सकता है।

**६. विधि–** विधि का अर्थ प्रकार है। यह सजातीय पदार्थों में आन्तरिक भेद प्रकट करने के लिए प्रयुक्त होती है। जैसे– निज और आगन्तुक भेद से रोग दो प्रकार के होते हैं। दोष भेद से रोग तीन प्रकार (वातज, पित्तज, कफज) के होते हैं।

साध्य, असाध्य और तद्‌गत, मृदु तथा दारुण भेद से रोग चार प्रकार के होते हैं। जैसे– १. मृदु साध्य (सुख साध्य), २. दारुण साध्य (कृच्छ साध्य), ३.मृदु असाध्य (याप्य), ४. दारुण असाध्य।

विधि ज्ञान का प्रयोजन यह है कि व्याधि के प्रकार का सम्यक् ज्ञान हो जाने पर तदनुसार चिकित्सा की जाती है। जैसे– उर्ध्वग और अधोग भेद से 'रक्तपित्त' दो प्रकार का होता है। उर्ध्वग रक्तपित्त में अधोभाग हरण (विरेचन) तथा अधोग रक्तपित्त में उर्ध्वहरण (वमनरूप) चिकित्सा करनी चाहिए, आदि का ज्ञान होता है।

## उपद्रव लक्षण

रोग उत्पन्न करने वाले दोषों के अधिक प्रकोप से जो अन्य विकार उत्पन्न होता है, उसे उपद्रव कहते हैं।

**"रोगारम्भक दोष प्रकोप जन्योऽन्य विकारः। " – मधुकोष**

जिस दोष से रोग उत्पन्न हो, उसी दोष से मुख्य रोग के पश्चात् उत्पन्न विकार को उपद्रव कहते हैं।

चरक के अनुसार उपद्रव उसे कहा जाता है, जो रोग होने के उत्तर (पश्चात्) काल में उत्पन्न हो, रोग के आश्रित हो, उसको रोग ही कहा जाता है। वह छोटा हो या बड़ा हो, किन्तु रोग के बाद होने से उसे उपद्रव के नाम से कहा जाता है। रोग प्रधान होता है और रोग का अप्रधान भूत लक्षण उपद्रव होता है। प्रधान रोग के शान्त हो जाने पर अप्रधान उपद्रव शरीर में अधिक पीड़ा करने वाला होता है; क्योंकि प्रधान रोग के द्वारा शरीर के जर्जर हो जाने के बाद वह उत्पन्न होता है। शरीर के दुर्बल होने पर जो भी उपद्रव होते हैं, वे अवश्य ही कष्ट कर होते हैं, इसलिए बलवान् उपद्रव की बिना विलम्ब किये शीघ्र ही चिकित्सा करनी चाहिए। उपद्रव को ही Complication कहते हैं।

## साध्यासाध्य विचार

अच्छे चिकित्सक असाध्य रोगियों की चिकित्सा प्रारम्भ ही नहीं करते, क्योंकि असाध्य रोग ठीक होता नहीं, उल्टे चिकित्सक को यश की हानि, ज्ञान की निन्दा, लोकापवाद और आक्रोश का पात्र बनना पड़ता है। अतः रोग निश्चय के साथ ही रोग की साध्यासाध्यता का विनिश्चय करने के पश्चात् केवल साध्य रोगियों की चिकित्सा में प्रवृत्त होना चाहिए। जिनके समुचित उपचार करने से शमन हो जाने की बलवती सम्भावना हो।

**प्रभाव भेद से–** रोगों के दो प्रकार होते हैं। १. साध्य और २. असाध्य। पुनश्च।

साध्य के दो भेद– १. सुख साध्य, २. कृच्छ्र साध्य। पुनश्च, असाध्य रोग के दो भेद– १. याप्य, २. अनुपक्रम या प्रत्याख्येय।

इस प्रकार कुल मिलाकर रोग चार प्रकार के होते हैं। १. सुख साध्य, २. कष्ट साध्य, ३. याप्य, ४. प्रत्याख्येय।

थोड़े समय के उचित उपचार से जो रोग अच्छे हो जाते हैं, वे सुख साध्य कहे जाते हैं।

अधिक समय में कठिनाई से अच्छे होने वाले कृच्छ साध्य कहे जाते हैं।

जब औषध का प्रयोग हो, तब तक कष्ट कम हो जाय और सर्वथा ठीक न होने वाले को याप्य कहते हैं।

जिस रोग में चिकित्सा का कोई प्रभाव न हो और न तो कष्ट दूर हो, न रोग के ठीक होने की आशा ही हो, उसे असाध्य कहा जाता है।

जिसमें औषधि सफल नहीं होती। रोगी की आयु समाप्त हो जाती है, प्रत्याख्येय कहते हैं।



# ॥ द्वितीयोऽध्यायः॥

## षड्विध क्रियाकाल

वात, पित्त, कफ ये तीन शारीरिक दोष हैं। दोष वैषम्य ही रोग या विकार कहलाता है। दोष वैषम्य होने पर सहसा रोगोत्पत्ति नहीं होती है, अपितु क्रमिक विकास की प्रक्रिया से रोग का जन्म होता है। विषम दोष, जिस क्रम से रोग उत्पन्न करते हैं, उस क्रम में छः अवस्थायें होती हैं, इसे ही क्रियाकाल कहते हैं। क्रिया का अर्थ है– चिकित्सा और काल का अर्थ है– अवसर। अर्थात् क्रिया काल– चिकित्सा का अवसर।

**क्रियाकाल ज्ञान का महत्त्व–** दोष वैषम्य जन्य क्रियाकाल को सूक्ष्म बुद्धि द्वारा जान लेने पर दोष की संचयावस्था में ही प्रतिकार का उपाय कर देने से विकार शान्त हो जाते हैं और रोग के उत्पन्न होने की संभावना समाप्त हो जाती है। अतः रोग की अनुत्पत्ति अथवा समूल उन्मूलन के लिए इन छः क्रियाकालों को जानना आवश्यक है।

**क्रियाकाल का परिचय–** दोष वैषम्य होने के पश्चात् और रोग उत्पन्न होने के पूर्व दोषों की जो विभिन्न स्थितियाँ होती हैं, उन्हें क्रियाकाल कहते हैं। क्योंकि उन स्थितियों में क्रिया (चिकित्सा) करने का अवसर होता है। दोषों की उन प्रत्येक अवस्थाओं में दोष के शमन या निर्हरण का उपाय करना चाहिए। यदि दोष प्रारम्भिक अवस्था में शान्त कर दिये जाते हैं, तो वे तीव्र नहीं होते हैं। इस प्रकार **'संचय'** प्रथम क्रिया काल, **'प्रकोप'** द्वितीय, **'प्रसर'** तृतीय, **स्थान–संश्रय** चतुर्थ, **व्यक्त** पंचम और **भेद** षष्ठ क्रियाकाल है।

### १. संचय

"संचय" दोषों की चिकित्सा करने का प्रथम काल है। इस स्थिति में दोषों के जो स्थान कहे गये हैं, उन अपने स्थानों में ही दोषों की वृद्धि हो जाती है एवं स्वस्थान में दोषों की वृद्धि होना संचय कहलाता है।

**दोषों के संचय के अनेक कारण हैं। जैसे–**

१. ऋतुओं के अनुसार (नैमित्तक)।
२. असात्म्येन्द्रियार्थ (संयोगजन्य)।
३. वय के अनुसार (आवस्थिक)।
४. प्रज्ञापराध जन्य (अस्वाभाविक)।

दोषों की संचयावस्था में कोष्ठ में भारीपन और पूर्णता, पीला दिखलाई देना अथवा त्वचा का वर्ण कुछ पीला हो जाना, शरीर में हरारत आ जाना, अंगों में भारीपन होना, आलस्य होना, संचय के कारणों से द्वेष की भावना और दोष के विपरीत गुण वाले पदार्थों के सेवन की इच्छा होना, ये लक्षण होते हैं। जैसे वात के संचय में रुक्षादि वात सामान्य अर्थात् संचय कारक पदार्थों से द्वेष उत्पन्न होना और स्निग्धादि वात के विपरीत गुण वाले पदार्थों की अभिलाषा उत्पन्न होना, ये लक्षण जब होवें, तब वात का संचय जानना चाहिए।

## २. प्रकोप

दोषों की संचयावस्था में चिकित्सा न करने पर अनुकूल कारणों की उपस्थिति में दोषों का प्रकोप होता है। दोष का अपने स्थान से अन्य स्थान में जाकर लक्षणों को उत्पन्न करना प्रकोप कहलाता है। दोष प्रकोप की चिकित्सा यदि नहीं की गई, तो वह रोग उत्पन्न करते हैं।

१. ऋतुओं के स्वभाववश भिन्न-भिन्न ऋतुओं में भिन्न-भिन्न दोषों का प्रकोप होता है।

२. आहार-विहार आदि के प्रभाव से कभी-कभी तत्काल दोष प्रकोप हो जाता है। जैसे बलवान् के साथ युद्ध करने, श्रम से (शक्ति से अधिक) अन्य वात प्रकोपक कारणों से वायु का, क्रोधादि से पित्त का और दिन में शयन आदि से कफ का प्रकोप होता है।

३. काल स्वभाव से वर्षा में वायु का, शरद् में पित्त का और वसन्त में कफ का होता है। यह चिकित्सा का दूसरा काल है।

## ३. प्रसर

प्रकोपावस्था में यदि दोषों का संशोधन या शमन नहीं किया गया, तो दोष अपने स्थान से चलायमान होकर शरीर में इधर-उधर फैलने लग जाते हैं। स्रोतों द्वारा शरीर में सर्वत्र दोषों का फैलना प्रसर कहलाता है।

जब तक दोषों के प्रसर का अवरोध नहीं होता या उन्हें बाहर नहीं निकाला जाता, तब तक वे सतत क्रियाशील होकर, तीव्रतर लक्षणों को उत्पन्न करने में लगे रहते हैं।

दोषों का **प्रसर** पन्द्रह प्रकार का होता है

– १. वात, २. पित्त, ३. कफ, ४.रक्त, ५. वात-पित्त, ६. वात-कफ, ७. पित्त-कफ, ८. वात-रक्त, ९. पित्त-रक्त, १०. कफ-रक्त, ११. वात-पित्त-रक्त, १२. वात-कफ-रक्त, १३. पित्त-कफ-रक्त, १४. वात-पित्त-कफ, १५. वात-पित्त-कफ-रक्त।

## ४. स्थान संश्रय

प्रकुपित दोष शरीर के भिन्न–भिन्न स्थानों में भ्रमण करते हुए स्रोतों की विगुणता के कारण जब किसी स्थान विशेष में अवरूद्ध हो जाते हैं, तब वहाँ स्थिति दूष्य के साथ संयुक्त होकर विकार को उत्पन्न करते हैं। दोष–दूष्य का संयोग दोष–दूष्य संमूर्च्छना कहा जाता है तथा इन दोनों की संमूर्च्छना ही किसी व्याधि की सम्प्राप्ति का मूलाधार है।

शरीर के किसी भी अवयव या स्थान में दोषों का अवरूद्ध होकर विकार उत्पन्न करना **स्थान संश्रय** कहलाता है। इससे दोषों की विकृति की सूचना के साथ ही भावी व्याधि के बोधक सामान्य लक्षण भी जाने जाते हैं।

रोग प्रकट होने के पूर्व शरीर में रोग हो रहा है, इस बात के सूचक जो चिह्न किसी व्यक्ति के शरीर में दिखलाई देते हैं, उन्हें पूर्वरूप कहा जाता है।

जैसे– १. उदर स्थिति दोष–मन्दाग्नि, अतिसार।

२. वस्तिगत दोष– प्रमेह, मूत्र रोग आदि।

३. वृषणगत दोष– वृषण वृद्धि आदि।

४. शिश्नगत दोष– उपदंश आदि।

६. जत्रु के उर्ध्वभागगत दोष उर्ध्व जत्रु विकार, त्वचा, मांस, रक्तगत दोष, विसर्प कुष्ठ आदि।

इस प्रकार उदरादि विभिन्न स्थान स्थित दोष **स्थान संश्रय** की अवस्था में रोगों का पूर्वरूप उत्पन्न करते हैं एवं रोगों के पूर्वरूप के समय चौथा चिकित्सा काल होता है।

## ५. व्यक्त

जिस अवस्था में प्रत्येक व्याधि के प्रमुख लक्षण उत्पन्न होते हैं और उन लक्षणों के प्रकट होने पर रोग किसी खास नाम से जाना जाता है, उस अवस्था को 'व्यक्तावस्था' व्यक्त कहते हैं। जैसे– ज्वर का सन्ताप, अतिसार का मल निकलना, आध्मान का पेट फूलना, कामला का नेत्र, त्वचा आदि में पीलापन तथा विसूचिका में तीव्र उदर शूल के साथ कै–दस्त होना आदि।

संचय, प्रकोप और प्रसर इन तीन अवस्थाओं में जो लक्षण होते हैं, वे दोषाधिष्ठित होते हैं, उन्हें विकार कहते हैं।

जब दोष सम्पूर्ण या आधे शरीर में या किसी अंग अथवा स्थान में आश्रय बना लेते हैं, तब उस विकार को रोग कहा जाता है। इस प्रकार षट्क्रियाकाल की तीन पूर्वावस्थाओं में उत्पन्न लक्षण **विकार** और उत्तर की तीन अवस्थाओं में उत्पन्न लक्षण समूह **रोग** है।

व्यक्त अवस्था में रोग से सम्बन्ध वे सभी लक्षण व्यक्त या प्रकट हो जाते हैं, जिसके आधार पर व्याधि को निश्चय रूप से जाना जाता है। यह चिकित्सा का पंचम काल है।

### ६. भेद

जब शोष, ग्रन्थि, विद्रधि आदि विदीर्ण होकर (फटकर) व्रण भाव को प्राप्त होते हैं, तब चिकित्सा का छठा काल होता है। ज्वर अतिसार आदि रोगों में जहाँ शोथ आदि की तरह भेद होना सम्भव नहीं है, वहाँ बहुत दिनों तक बने रहना ही छठा चिकित्सा काल जानना चाहिए। विषम दोष इस अवस्था में पहुँच कर विशिष्ट लक्षणों को उत्पन्न करते हैं, जिनके आधार पर यह निर्णय किया जाता है कि अमुक रोग में अमुक दोष की प्रधानता है। जैसे–व्यक्तावस्था में रोग के प्रकार का स्पष्ट बोध होता है, वैसे ही भेदावस्था में रोगों के लक्षणों को देखकर दोषों की प्रधानता के आधार पर वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक एवं सन्निपातिक आदि भेद स्पष्ट हो जाते हैं। इससे चिकित्सक को चिकित्सा कार्य में सुगमता होती है।

### दोषवैषम्य–विकास क्रम सारणी

| अवस्था | | लक्षण |
|---|---|---|
| १. संचय | अप्रकट | १. वृद्धि हेतु प्रद्वेष |
| | | २. विपरीत गुण वाले द्रव्य की इच्छा |
| २. प्रकोप | | १. कोष्ठ भेद |
| | | २. अम्लोद्‌गार–पिपासा |
| | | ३. अन्नद्वेष–वमन का उद्वेग |
| ३. प्रसर | | १. विमार्ग गमन |
| | | २. ओष–चोष–परिदाह |
| | | ३. अरोचक–अविपाक |
| ४. स्थान संश्रय | प्रकट | १. स्थान के अनुरूप रोग का पूर्वरूप होना। |
| ५. व्यक्त | | १. स्थान के अनुरूप रोग के लक्षण प्रकट होना। |
| ६. भेद | | १. दोषानुसार लक्षणोत्पत्ति एवं दीर्घ कालानुबन्धित्व। |

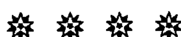
**कुपितानां दोषाणां शरीरे परिधावनं तथा कर्माणि**

दोषों का अपना निश्चित मार्ग छोड़कर किन्हीं अन्य मार्गों से गमन करना कोप कहलाता है। इससे दोष अपने-अपने लक्षणों को दिखाते हैं। शरीर में अस्वस्थता होती है और रोग उत्पन्न होता है।

जिस प्रकार व्यान वायु की प्रेरणा से समस्त शरीर में रस का परिभ्रमण होता है, उसी प्रकार प्रकुपित हुए दोष समस्त शरीर में संचरण करते हुए, धातु, अंग, प्रत्यंग तथा इन्द्रियों में वैगुण्य उत्पन्न करते हैं और उनमें विकार की उत्पत्ति होती है।

शरीर में संचार करने वाले कुपित दोषों का स्रोतों वैगुण्य के कारण अथवा खवैगुण्य होने के कारण जहाँ अवस्थान होता है वहाँ रोग उत्पन्न होता है। जब अपने-अपने प्रकोपक कारणों से दोषों तथा धातुओं का प्रकोप हुआ हो, परन्तु श्रोतों की दुष्टि न हुई हो, तो दोष सर्वाङ्ग में फैलकर सर्वाङ्ग में रोग उत्पन्न करते हैं।

यदि प्रकुपित दोष और धातु के प्रभाव से स्रोत भी दूषित हो गये हों, तो जहाँ किसी स्रोत-विशेष में विकृति हुई हो, वहाँ से आगे दोष, धातु आदि का संचार पूर्णरूप से न होने से दोष आदि न्यूनाधिक अंश में वहीं रुक जाते हैं। परिणामतः जहाँ वे अटकेंगे, उस एकांग या एक देश में रोग उत्पन्न होता है। स्रोतों की दुष्टि से एक देश में दोषों के रुक जाने को दोषों का **स्थान संश्रय** कहते हैं।



# ॥ तृतीयोऽध्यायः॥

## अष्टविध परीक्षा

जिन आठ अंगों की परीक्षा की जाती है वे निम्न हैं–१. नाड़ी, २. मूत्र, ३.मल, ४. जिह्वा, ५. शब्द, ६. स्पर्श, ७. नेत्र, ८. आकृति।

**नाड़ी परीक्षा–** नाड़ी विशेषज्ञों का मानना है कि नाड़ी सभी रोगों को व्यक्त कर देती है, जैसे वीणा के तार सम्पूर्ण रोगों को प्रकट कर देता हैं।

### नाड़ी

**नाड़ी के नाम–** क. हिस्रा, ख. स्नायु, ग. वसा, घ. नाड़ी, ङ. धमनी, च.धरा, छ. तन्तुकी, ज. जीवितज्ञा और झ. सिरा, ये नाड़ी के पर्याय हैं।

**क. नाड़ी परीक्षा विधि–** नाड़ी देखने का समय सबसे अच्छा प्रातःकाल होता है। रोगी और वैद्य फुरसत में हों तो किसी समय देखी जा सकती है। मणिबन्ध पर अंगुष्ठ से एक अंगुल नीचे अपने दायें हाथ की तर्जनी, मध्यमा और अनामिका से स्पर्श कर नाड़ी परीक्षा करनी चाहिए। तर्जनी के नीचे वात नाड़ी, मध्यमा के नीचे पित्त नाड़ी और अनामिका के नीचे कफ नाड़ी का ज्ञान होता है। बार–बार ऐसा अभ्यास करने से नाड़ी की सबलता या निर्बलता जानी जाती है। तीन बार छोड़–छोड़ कर नाड़ी देखने से वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होता है।

परम्परा के अनुसार पुरुष की दाहिने हाथ तथा स्त्री की बायें हाथ की नाड़ी देखनी चाहिए। नाड़ी देखने के समय रोगी मल–मूत्रादि वेग से निवृत्त हो। क्षुधित, तृषित, श्रान्त, कामुक, पीतमद्य, सद्यःस्नात, सद्यःभुक्त, क्रोधातुर, उष्णार्त, व्यायाम से या अन्य कारणों से श्रान्त व्यक्ति की नाड़ी परीक्षा ठीक नहीं होता, इसलिए इस स्थिति में नाड़ी नहीं देखनी चाहिए। हाथ घुटनों के भीतर रखना चाहिए।

**ख. नाड़ी स्पर्श–** नाड़ी मृदु है या कठिन यह स्पर्श से परीक्षा करते हैं। वृद्धावस्था एवं रक्तभाराधिक्य में कठिन नाड़ी तथा बाल्यावस्था और रक्तभारात्पता में मृदु नाड़ी चलती है। कफाधिक्य में मृदु तथा वाताधिक्य में कठिन नाड़ी चलती है।

**ग. दोष प्रभाव–** पित्ताधिक्य में तीक्ष्ण, कफाधिक्य में मन्द और वाताधिक्य में विषम नाड़ी चलती है। वातविकार में जलौंका के समान वक्र, सर्प के समान विषम, पित्त विकार में गौरया, काक, मण्डूक के सदृश (उत्प्लुत्यगमन) और कफ विकार में हंस और कबूतर के समान (मन्दगति) नाड़ी की गति होती है।

द्विदोषज विकार में भी कभी तीव्र कभी स्थान भ्रष्ट होकर सन्निपातज विकार में लाव, तीतर तथा बटेर के सदृश अति चंचल नाड़ी चलती है।

**घ. रोग के अनुसार नाड़ी गति–** १. निरोग एवं सुखी मनुष्य की नाड़ी स्थिर और बलवती होती है।

२. मन्दाग्नि में, धातुक्षीणता में नाड़ी मन्द और धीमी होती है।

३. भय, चिन्ता, शोक में नाड़ी की गति क्षीण होती है।

४. अजीर्ण में नाड़ी कठिन और मन्द होती है।

५. पाण्डू और कामला में रोगी की नाड़ी चंचल और तीक्ष्ण रहती है।

६. कृमि रोग में कभी मृदु, कभी तीव्र, कभी अति वेगवती और कभी लुप्त प्रतीत होती है।

७. गुल्म में चंचल और वेगवती होती है।

८. रक्तपित्त में मंद और कठिन होती है।

९. हृदय रोग में हंस के समान मन्दगति, कठिन, कभी लुप्त तथा कभी तीव्र गति होती है।

**च. नाड़ी परीक्षा विभाग–**

१. गति स्पन्दन संख्या (Rate), २. सम–विषम गति (Rhythm), ३. शक्ति–रक्तबल (Force), ४. स्थूल या कृश (Volume), ५. संहति–कोमल या कठोर (Tension)

**१. गति–** नींद की अपेक्षा जगने पर, सायंकाल की अपेक्षा प्रातःकाल में, लेटने की अपेक्षा बैठे रहने पर और बैठने की अपेक्षा खड़े रहने पर नाड़ी की गति बढ़ जाती है।

स्वस्थ व्यक्तियों में एक मिनट में नाड़ी की गति उम्र के अनुसार घटते क्रम में रहती है।

| | | | |
|---|---|---|---|
| गर्भस्थ बच्चों में | – १४०, | जन्म लेने पर | – १३० |
| प्रथम वर्ष में | – १२०, | द्वितीय वर्ष में | – ११० |
| तृतीय वर्ष में | – १०० | सात वर्ष तक | – ९५ |
| चौदह वर्ष में | – ९० | बीस वर्ष तक | – ८५ |
| चालीस तक | – ७५ | साठ तक | – ७० |

अति वृद्धावस्था में – ७५–८०

श्वास की गति और नाड़ी की गति का अनुपात स्वभावतः १:४ होता है। फुफ्फुस शोथ में १:३ या १:२ होता है।

**विशेष**– ज्वर में एक अंश ताप की वृद्धि से नाड़ी की गति प्रति मि. ८–१० बढ़ जाती है। किसी भी स्थिति में एक मिनट में ५० से कम १५० से अधिक नाड़ी की गति रोग की गम्भीरता का सूचक है।

**२. यति**– नाड़ी की गति तालबद्ध होने को यति कहते हैं। स्वस्थ दशा में स्पन्दन और विराम तालबद्ध होते रहते हैं। इस ताल की समता हृदय विकृति होने पर भंग हो जाती है। ताल में विषमता वातजन्य होती है। तीव्र सन्निपातिक रोगों में जब वायु अत्यधिक कुपित होती है तो नाड़ी कभी चलती है, कभी रुक भी जाती है। ऐसी नाड़ी गम्भीरावस्था का द्योतक है।

**३. शक्ति** (Force)– नाड़ी स्पर्श करने पर नाड़ी वेग से अंगुलियों पर जो आघात होता है, उससे नाड़ी शक्ति का पता चलता है। नाड़ी का स्पन्दन बन्द करने में जितनी अधिक शक्ति लगती है, उतना अधिक बल माना जाता है। आयु बढ़ने के साथ नाड़ी भीतर से संकुचित होने लगती है, फिर हृदय में आने वाले रक्त का ग्रहण सरलतापूर्वक नहीं कर सकती, परिणाम स्वरूप रक्तभार बढ़ता जाता है और नाड़ी रक्त पूर्ण रहती है।

रक्तभार में अतिवृद्धि या अति न्यूनता घातक लक्षण हैं।

**४. पूर्णता–आकृतिर्वा** (Volume)– नाड़ी में जब रक्त पूरा आता है, तब नाड़ी पूर्ण या गुरु कहलाती है। इसके विपरीत जब उसमें रक्त कम आता है, तब वह अपूर्ण या लघु कही जाती है। आमदोष या कफ की अधिकता से नाड़ी गुरु और वात दोष के कारण लघु चलती है।

**५. संहति** (Tension)– रक्तवाहिनियों की दीवालों पर व्यानवायु से प्रेरित रक्त का जो दबाव पड़ता है, उसे संहति या रक्तभार कहते हैं। वृद्धावस्था, चिरकालिक वृक शोथ, यकृतवृद्धि, यकृत में स्थित कोलेस्टेरीन (पित्त) का रक्त में बढ़ जाना, उपदंश और पुराने अजीर्ण आदि रोगों में नाड़ी की दीवार में दृढ़ता बढ़ जाती है। हाथ लटकाये रहने, शीतल जल से स्नान करने के पश्चात् नाड़ी अधिक दृढ़ हो जाती है। इसके विपरीत रक्त श्राव होना, हाथ को ऊँचे उठाये रखना, स्वेदन क्रिया और उष्ण जल से स्नान के पश्चात् नाड़ी की दृढ़ता कुछ कम हो जाती है।

**विशेष**– नाड़ी (धमनी) जितनी मृदु होती है उतनी व्याधि प्रतिकार शक्ति अधिक होती है। नाड़ी कठोर होने पर रोग से संरक्षण प्रदान करने में अधिक सावधानी की आवश्यकता होती है। कठोर नाड़ी वाले अल्पायु होते हैं।

स्वस्थ मनुष्य की विश्राम की अवस्था में रक्त का दबाव ११५ से १३५ मिली मीटर तक रहता है। इसे जानने के लिए आयु की संख्या + १०० मिलाने पर जितनी संख्या होती है उतनी स्वभाविक रक्त का दबाव होना चाहिए।

सामान्यतः आयु + ९० संकोच कालिक रक्तभार तथा इसका २/३ और वृद्धावस्था में इसका आधा प्रसार कालिक रक्तभार होता है। दोनों के अन्तर को नाड़ी भार कहते हैं। किसी भी स्थिति में १६० से अधिक रक्तभार विकार का द्योतक है।

## २. मूत्र

**परिचय–स्वरूप–** मूत्र आहार का मल है। पाचक पित्त की क्रिया से परिपक्व आहार सारभूत रस और किट्टभूत असार मल के रूप में द्विधा विभक्त हो जाता है। मल दो प्रकार का होता है।

१. घन और द्रव। घन मल पुरीष है, शेष द्रवांश विंशिष्ट वाहिनियों द्वारा मूत्राशय में पहुँचा दिया जाता है और उसकी मूत्र संज्ञा होती है। सर्व शरीर में अनुधावन करता हुआ रक्त जब वृक्कों को प्राप्त करता है, तो उसके आन्त्र नामक स्रोत उसके अन्तर्गत और उचित से अधिक ज़ल के अंश का निर्हरण कर लेते हैं।, यही निर्वृत द्रव मूत्र है।

**मूत्र निर्माण–** मूत्र के निर्माण और निकलने में क्रियाशील अवयव हैं– दो वृक्क, दो गवीनियाँ, एक वस्ति और एक मूत्र प्रसेक। वृक्क उदर गुहा में दक्षिण और वाम भाग में एक–एक होता है। वृक्कों की आन्त्र नामक प्रणालियों द्वारा मूत्र का निर्माण होता है। इनकी संख्या हजारों में है। अति सूक्ष्म होने से इनके मुख दिखाई नहीं देते। आन्त्रों के सूक्ष्म छिद्रों से क्षरित मूत्र पहले वृक्कों को फिर गवीनियों द्वारा वस्ति (मूत्राशय) को पूरित किया करता है।

**मूत्र कर्म–** (कार्य) १. वस्ति का पूरण और शरीर को आर्द्रता प्रदान करना, ये दो मूत्र के कार्य हैं। यह वस्ति को एक क्षण के लिए भी खाली नहीं रहने देता, अन्यथा वस्ति में वायु भरने पर कोई भी वात विकार हो सकता है।

२. मूत्र शरीरगत दोष, धातु एवं मल सम्बन्धी विभिन्न अशुद्धियों को जल के माध्यम से शरीर से बाहर निकालता है।

**मूत्र परीक्षा– क. क्षय–** मूत्र क्षय होने पर वस्ति स्थान में सुई चुभाने जैसी व्यथा, मूत्राल्पता, तृष्णा और मुखशोष ये लक्षण हैं।

**ख. वृद्धि–** इसमें बार–बार प्रवृत्ति और बस्ति में आध्मान होता है।

ग. प्रवृत्ति– मूत्र त्याग कितनी बार, रुकावट है या नहीं, वेदना है या नहीं दाह आदि पूछें? प्रमेह में अधिक मूत्र धूसर, गंदला, मूत्रकृच्छ, अश्मरी और पौरुष ग्रन्थि वृद्धि में रुकावट और वेदना के साथ पेशाब होता है।

**रोगों के कारण मूत्र के वर्ण में अन्तर–**

१. पाचन विकृति में पीला–लाल वर्ण।

२. पित्त वृद्धि में गहरा पीला वर्ण।

३. पाण्डु–कामला और पित्त विकार में हरा–पीला।

४. ताप एवं यकृत विकार में पीले लाल रंग का अल्प मात्रा में मूत्र होता है।

५. गर्भिणी का मूत्र स्वच्छ, किन्तु उसमें रुई के रेशे के समान परमाणु दिखाई देते हैं।

६. वात ज्वर में कभी–कभी नीला–पीला, पित्त ज्वर में झागदार, त्रिदोषज में लाल या काले रंग का वर्ण। जीर्ण ज्वर में बकरी के मूत्र के वर्ण का मूत्र आता है।

७. जलोदर में पीले रंग का और मूत्र में घी के दाने के समान दाने प्रतीत होते हैं।

## ३. मल (पुरीष)

**परिचय, स्वरूप–** भुक्त आहार का आमाशय, पच्यमानाशय और पक्वाशय में त्रिविध पाक होने के परिणामस्वरूप जो निःसार भाग मलद्वार से बाहर निकलता है, वह पुरीष या मल कहलाता है।

भुक्त का अन्तिम परिपाक क्षुद्रान्त्रों में होता है। क्षुद्रान्त्रों से प्रसादभूत रस धमनियों और रसायनियों द्वारा सर्वाङ्ग में पहुँचा दिया जाता है। शेष किट्टांश पक्वाशय में प्रवेश करता है। इस किट्टांश का द्रव भाग वह्नि द्वारा शुष्क कर दिया जाता है। परिणाम में पक्वाशय में प्रवेश के समय जो किट्ट द्रव रूप होता है, वही अब पक्व होकर पिण्ड रूप हो जाता है और उसी की संज्ञा 'पुरीष' होती है। पुरीष के कटु रस होने से पक्वाशय में दूषित वायु का प्रादुर्भाव होता है। पक्वाशय दुष्ट वायु का प्रधान स्थान है। किट्टांश का स्थूल भाग पुरीष और सूक्ष्म भाग मूत्र है। इस प्रकार आहार मल के तीन रूप हैं–

१. पुरीष,

२. मूत्र और

३. अधोवायु।

**पुरीष कार्य–** जिस प्रकार धातुएँ शरीर को धारण करती है, वैसे ही पुरीष भी शरीर को धारण करता है। अतएव यदि बहुत अधिक मात्रा में मल (पुरीष) बाहर निकल जाता है, तो शरीर में दुर्बलता का अनुभव होने लगता है।

२. पुरीष शरीर धारण के साथ ही वायु और अग्नि को भी धारण करता है। प्राणियों का बल शुक्र के अधीन तथा जीवन मल के अधीन है। राज्यक्ष्मा में अग्नि मन्द होने से पोषक तत्त्व प्रायः मलरूप में परणित हो जाते हैं, अतः मल की रक्षा सावधानी से करने का निर्देश है।

**मल परीक्षा–**

**क. क्षय–** पुरीष क्षय में हृदय एवं पार्श्व में शूल, शब्दयुक्त वायु का उर्ध्वगमन और कुक्षि में वायु का घूमना ये लक्षण होते हैं।

**ख. वृद्धि–** पुरीष वृद्धि होने पर आटोप और उदरशूल होता है।

**ग. पुरीषज विकार–** विबन्ध, अतिसार, प्रवाहिका, ग्रहणी आदि।

**घ. प्रवृत्ति–** मल की प्रवृत्ति एक अहोरात्र में कितनी बार वेदनायुक्त या वेदनाहीन तथा अन्य लक्षण जाने।

स्वभावतः मल कभी–कभी पीले रंग का, बँधा हुआ, दुर्गन्ध और शुष्कता रहित होता है, एक साथ गिर जाता है; परन्तु रोग के कारण स्वाभाविक स्थिति, गति और समय में अन्तर हो जाता है।

**च. रोग के अनुसार मल स्थिति–** १. वायु विकार से मल झागदार, शुष्क और धूम वर्ण का होता है।

२. पित्त विकार में हरा–पीला, दुर्गन्ध युक्त, उष्ण और द्रवमल होता है।

३. कफ से सफेद, स्निग्ध और बँधा हुआ मल होता है।

४. दो दोषों में दो दोषों का लक्षण वाला मल।

५. त्रिदोष में सफेद या काला–पीला, पतला और गाँठ वाला मल हो जाता है।

६. मन्दाग्नि वालों को पतला होता है। प्रदीप्त अग्नि वालों का मल पीले रंग का बँधा हुआ। मलावरोध हो तो शुष्क काला सा हो जाता है।

७. अजीर्ण वालों का दुर्गन्ध युक्त और ढीला।

८. संग्रहणी में मल कच्चा और दुर्गन्धयुक्त आता और जल में डालने पर डूब जाता है।

९. विसूचिका में मल चावल के धोवन के समान सफेद रंग का और जल जैसा पतला होता है।

१०. जलोदर में मल सफेद रंग का और अति दुर्गन्धपूर्ण होता है।

**मल में लाल रंग आने का कारण—** १. अर्श, २. गुद विदार (गुदभेद)में अतिकष्ट होता है। ३. गुदा पर व्रण। ४. बालकों की गुदनलिका में अर्बुद। ५. आन्त्र क्षय से या मोतीझरा ज्वर में आन्त्र में व्रण होना। ६. अधोग रक्तपित्त।

## ४. जिह्वा परीक्षा

स्वस्थ मनुष्य की जिह्वा गीली, स्वच्छ और अग्रिम भाग में लाल होती है। रोगों में यह स्थिति परिवर्तित हो जाती है।

**रोग के कारण जिह्वा स्थिति—** १. कोष्ठबद्धता, आमाशय शोथ, यकृत शोथ, ज्वर, क्षय, प्रमेह और मधुमेह आदि रोगों में जिह्वा श्वेत या पीत मलावृत्त रहती है।

२. पित्त प्रकोप होने पर जिह्वा पीत मलावृत्त और कफ प्रकोप होने पर सफेद मलावृत्त रहता है।

३. वायु के प्रकोप से जिह्वा नीली, खुरदरी और काँटेवाली होती है।

४. पित्त विकार से लाल, मोटी, पीत मल आवृत्त और कटु रस वाली जिह्वा हो जाती है।

५. कफ दोष से स्थूल, सफेद, नीली और मृदु जिह्वा होती है।

६. विसूचिका, मूर्च्छा और श्वासावरोध में जिह्वा में कालापन दीखना अशुभ लक्षण है।

७. पाण्डु रोग में जिह्वा श्वेत—पीत और कामला में हरिद्रा वर्ण होती है।

८. फिरंग रोग में द्वितीयावस्था में जिह्वा में क्षत होते हैं।

९. जिह्वा स्तम्भ में रोगी जीभ बाहर नहीं निकाल सकता।

१०. अर्दित रोग में जीभ टेढ़ी और वाणी अस्फुट होती है।

११. सहसा जीभ कठोर, मोटी, सफेद, शुष्क, गुरु, श्यामवर्ण, मलावृत्त हो जाए तो अरिष्ट जानना चाहिए।

## ५. शब्द परीक्षा

शरीर के अवयवों में होने वाले शब्दों को श्रोत्र द्वारा सुनकर परीक्षा की जाती है। जैसे— आन्त्रों में अव्यक्त कूचन, आटोप (गुड़गुड़ाहट) वातरक्त में सन्धियों और पर्वों का स्फुटन (पुटकना), श्वास में भाथी की धौकनी की तरह ध्वनि, सन्निपात ज्वर में कण्ठ सूजन, अपतन्त्रक में कण्ठ कूजन आदि। कफ की अधिकता से स्वर में भारीपन, पित्त की अधिकता से अस्पष्ट ध्वनि और वात की अधिकता से गद्‌गद वाणी (हकलाकर) आदि विकार होते हैं।

**शब्द विकृति–** १. वात–पित्त प्रकोप से प्रलाप बढ़ जाता है।

२. शरीर दुर्बल होने पर बोली अस्पष्ट निकलती है।

३. कण्ठशोथ, स्वर यंत्र शोथ, प्रतिश्याय, कास, कफयुक्त श्वास, क्षय, उपदंश, अर्बुद, वातवह नाड़ियों में विकार होने से स्वर भारी और विकृत हो जाता है।

४. नासावरोध में अनुनासिक उच्चारण होता है।

## ६. स्पर्श परीक्षा

१. स्पर्श परीक्षा में शरीरावयवों की मृदुता, कठोरता, शोथ, ज्वर, उष्णता, रूक्षता और स्निग्धता आदि का बोध होता है।

२. शीताङ्ग सन्निपात में शरीर बर्फ के समान शीतल।

३. पित्त प्रधान आदि सन्निपात में अत्यधिक उष्णता होती है।

४. वात विकार में शरीर में शुष्कता और शीतलता होती है।

५. पित्त विकार में शरीर का स्पर्श उष्ण होता है।

६. कफ विकार में शरीर स्निग्ध और शीतल प्रतीत होता है।

७. यकृत वृद्धि, प्लीहा वृद्धि, गुल्म, ग्रन्थि और शोथ स्पर्श से जाना जाता है।

८. शून्यवात, पक्षाघात आदि में स्पर्श से स्थिति का ज्ञान होता है।

**उदर की स्पर्श परीक्षा–** रोगी को प्रकाशपूर्ण स्थान में लिटावें। हल्की तकिया सिर के नीचे रखें। उदर को शिथिल करने के लिए कहें और दोनों पैरों को मोड़ कर रखें। परीक्षक का हाथ शीतल न हो, नहीं तो स्पर्श से स्नायुओं का संकोच हो जाता है।

जब उदर सीधा और शिथिल हो और हाथ के स्पर्श को सहन कर लेवे, तब उँगलियों के अग्रिम भाग से भीतर के अवयव, अवयवों की दीवार, स्थान, शोथ, अर्बुद और मल की गाँठ की परीक्षा करें। रोगी को श्वास लेने छोड़ने को कहें। ऐसा करते समय उसका मुँह पार्श्व की ओर करा दें।

**विशेष–** १. निरोगावस्था में उदर में कठोरता या द्रव पदार्थ नहीं होता है। उदर स्पर्श में मृदु होता है। दबाने पर दबता है और नीचे ऊपर सरकता है। रोग होने पर ऐसा नहीं होता अन्तर आ जाता है।

२. उदर के स्पर्श से शोथ, व्रण, असह्य व्यथा, आन्त्र में जल या वायु भरना, पेट फूलना (आध्मान), आनाह (मल में गाँठे बँधना), आटोप, द्रवयुक्त तरंग, उदर्याकला में जल भरना तथा अर्बुद आदि का ज्ञान होता है।

**प्लीहा परीक्षा–** जब प्लीहा में वृद्धि होती है, तब वह नाभि की ओर बढ़ती है। थोड़ी बढ़ने पर पसलियों की आड़ में ही रहती है और अधिक बढ़ने पर उदर में आ जाती है। प्लीहा की परीक्षा के लिए रोगी को चित्त लिटाकर पैर मुड़वाकर खड़े रखावें। फिर उदर पर सपाट हाथ रखकर तर्जनी अंगुलि से वाम पर्शुकाओं की ओर दबाते जाएँ। प्लीहा पर्शुकाओं की ओर से बाहर निकली है या नहीं। इसी प्रकार सम–विषम और मृदु या कठोरता का भी ज्ञान करें।

**यकृत परीक्षा–** चित्त लिटाकर सिर के नीचे तकिया रखें और पैर मुड़वाकर खड़ा रखवायें। यकृत के ऊपर का भाग पाँचवीं पर्शुका से प्रारम्भ होकर नीचे दशवीं पार्शुका के नीचे तक रहता है। यकृत लगभग साढ़े चार से पाँच इंच जितने प्रदेश में अवस्थित है, जब उसकी वृद्धि होती है, तो नीचे की ओर बढ़ता है। यकृत में स्थान भ्रष्टता, शोथ, अर्बुद, विद्रधि और वृद्धि तथा संकोच आदि अनेक प्रकार के विकार होते हैं।

यकृत की परीक्षा के लिए उदर के नीचे और श्रोणिफलक के ऊपर हथेली रखकर तर्जनी अंगुलि से दबाते हुए हाथ को धीरे–धीरे ऊपर सरकाते जाना चाहिए।

**फुफ्फुस परीक्षा–** स्थानिक शोथ, मृदुता, कठोरता, वक्ष की परिधि, फुफ्फुसान्तरालीय स्थिति, महाप्राचीरा पेशी की गति और उभय पार्श्व में श्वास, निम्नलिखित भावों की परीक्षा की जाती है।

**१. शब्द तरंग परीक्षा–** फुफ्फुस में स्थिति ठोस और द्रव विकारों के विनिश्चय के लिए महत्त्वपूर्ण है।

**२. कूजन स्पर्श–** श्वासनलिका शोथ से उत्पन्न वातिक कास में कूजन ध्वनि का स्पर्श किया का सकता है।

**३. घर्षण स्पर्श–** तरुण फुफ्फुसावरण शोथ और हृदयावरण शोथ में घर्षण ध्वनि का स्पर्श प्रतीत किया जा सकता है।

**४. द्रव संक्षोभ–** उरस्तोय में पार्श्व परिवर्तन से द्रव–संक्षोभ की प्रतीति होती है।

**५. रुजा–** पार्शुकाभग्न, अधत्वक् वायु कोष विस्तृति एवं बाह्यार्बुद में वक्ष को छूने से पीड़ा होती है।

**हृदय परीक्षा–** रोगी को चित लिटाकर हृदय पर हाथ (करतल ऊपर और अँगुलियाँ नीचे) रख कर स्पर्श करें। जहाँ स्पन्दन प्रतीत होता है, वह कोण स्वस्थान पर स्थित है या नहीं, हृदय की गति जब तीव्र हो जाती है, तब बायीं

ओर के द्विपत्रकपाट के संकोच में स्पन्दन का आघात हाथ पर तीव्र और सत्वर होता है। किन्तु अतिशिथिलता आ जाने पर जब हृदय वेग मन्द हो जाता है, तब स्पन्दन का आभास नहीं होता। इसके अतिरिक्त स्थूल वक्ष होने पर या फुफ्फुसकोषों का विस्तार होने पर भी धड़कन की प्रतीति नहीं हो सकती।

**वृक्क परीक्षा–** परीक्षक को जिस ओर के वृक्क की परीक्षा करनी हो, उस ओर बैठे। एक हाथ पर्शुका के नीचे और दूसरा उदर पर रखकर दोनों हाथों को दबावें। रोगी को दीर्घ श्वास लेने को कहें, जिससे निःश्वास काल में उदर के साथ वृक्क भी नीचे उतरते हैं। उस समय दबाने से वृक्क स्थिति का बोध होता है।

**गुद परीक्षा–** हाथ को अच्छी तरह साफ कर विसंक्रामित रबर का दस्ताना पहन लें और तर्जनी अंगुलि को स्निग्धकर गुदा में भीतर प्रविष्ट कर अर्श की परीक्षा करें।

**वातज अर्श में–** शुष्क, खर, तीक्ष्ण, बिम्बी–खजूर, बेर, कदम्ब पुष्प या सरसों के आकार के श्यामवर्ण के अर्शांकुर होते हैं।

**पैतिक अर्श में–** मृदु, शिथिल, तनु, शुकजिह्वा, यकृत खण्ड या जलौका मुख के समान यवाकार नील–पीत वर्ण के अंकुर होते हैं।

**कफज में–** स्निग्ध, पिच्छिल, श्लक्ष्ण, खर, करीर या कटहल के बीज सदृश वृत्ताकार अथवा गोस्तनाकार श्वेत वर्ण के अर्श होते हैं।

**रक्तज अर्श में–** वटप्ररोह, प्रवाल या गुन्जा सदृश रक्तवर्णी होते हैं।

**नेत्र परीक्षा– वायु** की प्रकुपितावस्था में नेत्र में रूक्षता (रुखापन), भूरापन और थोड़ी ललाई आ जाती है। श्वेत पटल (नेत्र–गोलक पर आवृत्त पर्दा–कंजक्टाइवा) अक्षिगुहा के पार्श्विक कोण में चला जाता है और उसके साथ ही कृष्णपटल (कार्निया) भी किञ्चित् पार्श्व में आ जाता है एवं दूसरे पार्श्व का श्वेत पटल नेत्र–गोलक के सामने आ जाता है। नेत्र–गोलक (आई–बाल) भीतर की ओर कुछ धँस जाता है। दृष्टि–पटल (रेटिना) में स्तब्धता– स्थिरता या रूप ग्रहण शक्ति का अभाव हो जाता है।

**पित्त** की प्रकुपितावस्था में नेत्र हल्दी के टुकड़े के समान पीतवर्णयुक्त अथवा लाल या हरे वर्ण के हो जाते हैं। रोगी दीपक की ज्योति से द्वेष करने लगता है एवं आँखों में जलन होती है।

**कफ** की प्रकुपितावस्था में नेत्र श्वेतवर्ण का और उसके अधिक श्रम करने से आर्द्रता एवं चिकनापन आ जाता है। नेत्र की अपांग तथा कनीनिका–सन्धियों में मल (कीचड़) आने लगता है। नेत्र की ज्योति अत्यल्प हो जाती है। धीरे–धीरे नष्ट हो जाती है।

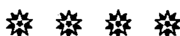
किन्हीं **दो दोषों** की प्रकुपितावस्था में दोनों दोषों के लक्षण मिलते हैं। **तीनों दोषों** की प्रकुपितावस्था में तीनों दोषों के लक्षण मिलते हैं और नेत्र गोलक अपने स्थान से विच्यूत होकर या तो भीतर की ओर धँस जाता है या फिर थोड़ा बाहर की ओर निकल आता है। अपांग और कनीनिका सन्धियों में अश्रुस्राव होने लगता है। अन्ततोगत्वा नेत्र खुले रह जाते हैं। इस प्रकार दोषानुसार नेत्र परीक्षा की जाती है। शेष लक्षणों का ज्ञान रोगों के अनुसार करना चाहिए।

**आकृति परीक्षा–** आकृति परीक्षा में वर्ण, सार, संहनन, प्रमाण, देह, स्थिति, शोथ तथा श्वासगति आदि परीक्षणीय हैं। आकृति परीक्षा में जिन बातों की परीक्षा की जाती है वह सब नेत्रेन्द्रिय द्वारा दर्शनीय है, जिसमें रोगी की सम्पूर्ण काया का एक बिहङ्गावलोकन किया जाता है।

रोगी का अन्तर्मन और रोग की झलक, रोगी की मुखाकृति से कुछ अंश तक मिल जाती है। हाव–भाव–चेष्टा और आनन की छवि दर्शा देती है। कतिपय परिस्थितियों को, जिसमें विषाद, सन्ताप, व्यग्रता के भाव परिलक्षित हो जाते हैं।

किसी का मस्तिष्क बहुत बड़ा हो तो Hydrocephalus रोग ज्ञात होता है। आँखें बड़ी एवं निकली हुई हो तो (Exophthalmic goitre)बहिर्नेत्र गलगण्ड रोग ज्ञात होता है। मुख की आकृति टेढ़ी हो जाने पर अर्दित (Facial paralysis)रोग का ज्ञान होता है। आँख पीली होने पर कामला रोग का निश्चय किया जाता है। उदर बड़ा हो एवं परिवृत्त नाभि(Everted umblicus) हो तो जलोदर का ज्ञान होता है। वक्षस्थल के विस्तार एवं क्रियाहीनता को देखकर उरस्तोय (Hydrothorax)तथा उरःपूय (Pyothorax) का अनुमान होता है।

अगर शरीर धनुष के समान हो गया तो धनुस्तम्भ (Tetanus) रोग का सूचक है। इसी प्रकार अनेक रोगों का ज्ञान करते हैं।



# ॥ चतुर्थोऽध्यायः ॥

## सामान्य रोग

### पाचन—संस्थान

पाचन संस्थान के मुख्य शारीरिक अवयव पाचन क्रिया में प्रमुख रूप से भाग लेते हैं—

(१) मुखः— (क) जीभ (ख) तालुमूल (ग) तालु (घ)दाँत।
(२) अन्न प्रणाली अथवा गलनली(ओसोफेगस)।
(३) पाकस्थली अथवा आमाशय (स्टमक)।
(४) पक्वाशय (डियूडेनम)।
(५) आँतें (इन्टेसटाईन)— (क) छोटी आँत (स्मॉल इन्टेसटाइन)। (ख) बड़ी आँत—(लार्जइन्टेसटाइन)।
(६) अग्न्याशय क्लोम (पैंक्रियाज)।
(७) यकृत (लीवर)।
(८) पित्ताशय (गालब्लाडर )।
(९) प्लीहा ( स्पलीन)।

(१) मुखः— मुँह का भीतरी भाग श्लैष्मिक झिल्लियों द्वारा निर्मित है। ये भी त्वचा जैसी होती है, तथा इनका रंग लाली लिए रहता है। इसमें रस स्रावी ग्रन्थियाँ हैं और इसमें पास आने वाले पदार्थ का शोषण करने की शक्ति भी रहती है। जीभ, तालुमूल, तालु तथा दाँत ये सब मुख के भीतर रहने वाले अवयव हैं।

(क) जीभः— यह माँस पेशियों द्वारा निर्मित है। इसे रसनेन्द्रिय भी कहा जाता है। भोजन को चबाने में भी सहायता पहुँचाती है। जीभ के ऊपरी भाग पर श्लैष्मिक झिल्ली लगी रहती है। इसके नीचे स्वाद कालियाँ होती हैं। मुँह के दोनों ओर गाल का भीतरी भाग होता है, जिसके भीतर लाला ग्रन्थियाँ अर्थात् लार निकालने वाली ग्रन्थियाँ रहती हैं। लार निकालने वाली ग्रन्थियाँ ऊपरी भाग में भी होती हैं। उन्हें अधोहनु ग्रन्थि कहा जाता है। जीभ के सामने तथा निम्न भाग के मध्य में भी दोनों ओर दो लार निकालने वाली ग्रन्थियाँ होती हैं, उन्हें अधोजिह्वा ग्रन्थि कहा जाता है। जीभ के पृष्ठ भाग में ऊपर की ओर ठीक बीचोंबीच एक लम्बा हिस्सा लटका रहता है। उसे काकलक कहा जाता है। इसके दोनों ओर दो

गोल ग्रन्थियाँ होती हैं, जिसका निम्न भाग अर्क की भाँति नीचे की ओर लटका रहता है। जीभ का पिछला भाग कुछ फैला हुआ तथा अन्न नलिका से मिला रहता है, उसे ग्रसनी(फैरिंक्स) कहा जाता है। भोजन ग्रसनी में पहुँचकर जब नीचे की ओर झुकता है तब वहाँ दो नलियों के छिद्र मिलते हैं। उनमें से एक छिद्र वायुनलीका तथा दूसरा अन्न नलिका होता है। भोजन के गिरते ही वायु नली का ढक्कन जो (कण्ठच्छद) नामक एक चपटी मांसपेशी का बना होता है, उस छिद्र को ढक देता है तथा अन्न को अपने ऊपर से सरका कर पिछले अन्न नली वाले छिद्र में भेज देता है।

(ख) तालुः– यह हड्डी तथा श्लैष्मिक झिल्ली द्वारा निर्मित है। यह भी पाचन क्रिया में सहायता करता है।

(ग) दाँतः– दाँत दो पंक्तियों में रहते हैं। एक पंक्ति मुख के ऊपरी भाग में तथा दूसरी पंक्ति निम्न भाग में रहती है। दाँत जिन मांसपिण्डों में रहते हैं, उन्हें मसूड़े कहा जाता है। मसूड़ों में अनेक रक्त वाहिनियाँ तथा स्नायु रहते हैं । जो उनकी जड़ के छिद्रों में प्रविष्ट रहते हैं। दाँत का वह भाग जो मसूड़ों में घुसा रहता है, मूलदेश (फैंग) कहा जाता है। स्थायी दाँतों की कुल संख्या ३२ होती है, किसी –किसी के मुँह में २८ अथवा ३० ही पाये जाते हैं।

एक ओर की दन्त पंक्ति में पहले तीन जोड़े चर्वणदन्त, बाद के दो जोड़े द्विशिरा दन्त, तीसरा एक जोड़ा श्वदन्त तथा अन्तिम दो जोड़े छेदक दन्त के होते हैं। दाँतों का मुख्य कार्य भोजन को काँटना, कुचलना तथा पीसना है। ये बोलने में भी जीभ की सहायता करते हैं।

## अन्नप्रणाली गलनली अथवा ग्रासनली (ओसोफेगस या गलेट)

जिस नली के द्वारा भोजन अमाशय में पहुँचता है, उसे अन्न प्रणाली अथवा अन्न मार्ग कहतें हैं। यह नली गले से (फैरिंक्स) प्रारंभ होती है। इसके नीचे गलनली या ग्रासनली है जो लगभग १०–१५ इंच तक लम्बी होती है तथा भोजन को मुँह से आमाशय तक पहुँचाने का कार्य करती है, इसमें कोई हड्डी नहीं होती। यह मांसपेशियों तथा झिल्लियों से बनी होती हैं।

मुँह से लेकर मलद्वार तक जो नली पाई जाती है, उस पूरी को अन्नप्रणाली या अन्नमार्ग के नाम से जानी जाती है। जो भाग मुख से लेकर आमाशय के मुख तक जाता है, उसे अन्न नली (फूड पाईप) कहते हैं।

यह ग्रसनी से प्रारम्भ होकर, गले में होती हुई वक्षःस्थल में प्रवेश करती है। इसका पृष्ठ भाग रीढ़ के गर्दन वाले भाग अर्थात् ग्रैवकशेरूक के पिण्ड के

सामने तथा अग्रभाग स्वर यन्त्र एवं वायु नली के पीछे रहता है। इसके दोनों ओर थायराइड ग्रन्थियाँ तथा कामन कैरोटिड धमनी रहती है। वक्षःस्थल के भीतर इसका सम्पर्क वक्षीय कशेरूक से रहता है तथा महाप्रचीरा पेशी तक पहुँचता है। जब यह महाप्रचीरा के छिद्र में होकर उदर गुहा (एवडोमेन) के भीतर प्रविष्ट होती है, तब वहाँ फूल कर आमाशय नामक मांस के थैले के रूप में परिवर्तित हो जाती है। वहीं नली रूप में समाप्त हो जाती है।

(३) **पाकस्थली अथवा आमाशयः–** यह नाशपाती के आकार का एक खोखली थैली जैसा अवयव है, जो बाईं ओर के उदर गह्वर के ऊपरी भाग में तथा उदर वक्षव्यवधायक पेशी (महाप्राचीरा ) के ठीक नीचे की ओर स्थित है। हृत्पिण्ड इसी पर स्थित है। यह गलनली के द्वारा मुँह से सम्बन्धित रहता है। जब मनुष्य खड़ा रहता है, उसकी शक्ल जे ( J ) अक्षर जैसी रहती है। यह लगभग १२–१३ इंच लम्बा तथा ५ इंच चौड़ा रहता है। पाकस्थली का भीतरी भाग श्लैष्मिक झिल्ली से भरा रहता है। श्लैष्मिक झिल्ली का अधिकांश भाग पाक स्थली के भीतरी भाग को तर बनाए रखने के लिए श्लैष्मिक श्राव करता है, जिससे कितने भागों में रसश्रावी ग्रन्थियाँ भर जाती हैं। इन ग्रन्थियों से "पेप्सिन" तथा 'हाइड्रोक्लोरिक एसिड' के स्राव होते हैं। इन ग्रन्थियों को पेप्टिक ग्रन्थियाँ कहा जाता है। पाकस्थली के तीन स्तर होते हैं–

( १) ऊपर वाला स्तर 'उदरक' कहा जाता है। यह बाहरी स्तर उदर प्राचीरा से संयुक्त रहता है तथा लसिका को ठीक रखने में सहायता देता है।

(२) मध्यस्तर मांस पेशी द्वारा निर्मित है। खाये हुए पदार्थ के मांसपेशी में पहुँचते ही इसकी सब पेशियाँ एक के बाद एक संकुचित होने लगती हैं, जिसके कारण लहरें सी उठकर पाक स्थली को एक छोर से दूसरी छोर तक हिलाती हैं। इस क्रिया के कारण खाया हुआ पदार्थ चूर–चूर होकर लेई जैसा रूप ग्रहण कर लेता है।

(३) पाकस्थली का अन्तरम नामक तीसरा स्तर मधुमक्खी के छत्ते जैसा होता है। इसमें श्लैष्मिक झिल्ली के बहुत से छोटे–छोटे छिद्र रहते हैं, जो एक विशेष प्रकार के सेलों के एक ही स्तर से बने रहते हैं। इनसे रसस्राव होता है। इन सेलों में कोई रक्त–वाहिनी नहीं होती है, परन्तु इसकी जड़ तक अनेक रक्त वाहिनियों का प्रवेश होता है। इस झिल्ली की ग्रन्थियों में उत्तेजना होते हुए भी रस स्राव होने लगता है। ये ग्रन्थियाँ दानेदार सी होती हैं। इन्हें लसिका ग्रन्थियाँ कहा जाता है।

आमाशय के दो घुमाव होते हैं। एक ऊपर का नतोदर छोटा भाग, जिसे 'लघुवक्र' कहते हैं तथा दूसरा भाग बाँयें तथा नीचे की ओर उन्नतोदर होता है, उसे 'वृहद् वक्र' कहा जाता है। वृहद् वक का निचला भाग नाभि तक चला गया है। आमाशय का पूराभाग ऊँचा, फूला तथा उठा हुआ सा रहता है, उसे 'फण्डस' कहा जाता है। इसके सामने का भाग चौड़ा होता है, वहाँ उदर गुहा की झिल्ली परिउदर्या के महावयावह लगी रहती है। इसके पृष्ठ भाग में लघुवयावह होता है, जो आमाशय के पृष्ठभाग को आग्न्याशय वृक्क एवं अधिवृक्क ग्रन्थि से पृथक करता है। इसके वाम भाग को हृत छोर (कार्डियक एण्ड) कहते हैं, जो ग्रास नली के (ओसोफेगस) निम्न भाग से सम्बद्ध रहता है। इसके दांयें भाग को पाइलोरिक छोर कहते हैं।

आमाशय २४ घण्टे में लगभग ५–६ लीटर रस निकालता है। इसमें भोजन प्रायः ४ घण्टे तक रहता है तथा इसमें लगभग डेढ़ किलो भोजन समा सकता है। कई लोगों में इसकी क्षमता अधिक पाई जाती है।

**(४) पक्काशय(डियूडेनम) :–** आमाशय के पाइलोरिक छोर से प्रारंभ होने वाले अंत के भाग को 'पक्काशय 'कहते हैं । यह लगभग १० इंच लम्बा तथा आकार में घोड़े की नाल अथवा अंग्रेजी के सी अक्षर जैसा होता है। यह आमाशय में 'पाइलोरिक एण्ड' से प्रारम्भ होता है। इसका पहला भाग ऊपर दाईं ओर पित्ताशय के कण्ठ तक जाता है तथा वहाँ से दूसरा भाग नीचे की ओर बढ़ता है। इसका उन्नतोदर भाग दाँईं ओर तथा नतोदर भाग बाँईं ओर रहता है, उसके भीतर अग्न्याशय का सिर स्थित रहता है। पक्काशय का निम्न तथा अन्तिम भाग दाँईं ओर से बाँईं ओर को जाता है। पक्काशय के भीतर पित्तवाहिनी तथा अग्न्याशय नली के मुँह एक ही स्थान पर खुलते हैं। पित्तवाहिनी तथा अग्न्याशय नली से निकले हुए स्राव एक छिद्र द्वारा पक्काशय में गिरते हैं। पक्काशय का ऊपरी भाग पैरीटोनियम से ढँका रहता है तथा अन्तिम भाग जेजूनम से मिला रहता है। पक्काशय में आमाशय से जो आहार रस आता है, उसके ऊपर पित्तरस (बाईल जूस) तथा क्लोम रस की क्रिया होती है। क्लोम रस पानी जैसा पतला, स्वच्छ, रंगहीन, स्वाद रहित तथा क्षारीय प्रतिक्रिया वाला होता है। इसमें ४ विशेष पाचक तत्व–(१) ट्रिप्सीन (२) एमिलौप्सिन, (३) स्टीप्सीन तथा (४) दुग्ध परिवर्तक पाये जाते हैं। ये आहार रस पर अपनी क्रिया करके प्रोटीनों को पेप्टोन, श्वेतसार को यवौज, वसा को ग्लिसरीन तथा अम्ल एवं दुग्ध को दही में परिवर्तित कर देते हैं।

(५) आँतें– (क) छोटी आँतः– पक्काशय के बाद छोटी आँत शुरू हो जाती है। इसकी लम्बाई लगभग २०–२२ फुट होती है। इसका व्यास लगभग डेढ़ इंच होता है। इसका पहला १० इंच वाला लम्बा भाग 'पक्काशय' कहलाता है तथा निचला सिरा बड़ी आँत से मिला रहता है। छोटी आँत की दीवारें अनैच्छिक मांसपेशियों की बनी होती है। जिनमें हर समय हरकत होती रहती है। इसकी गति को 'कृमिवत् आकुंचन' कहा जाता है। इस गति के कारण ही छोटी आँत का रस आहार रस में भली प्रकार मिल जाता है।

पाकस्थली से गया हुआ मुक्तपदार्थ का अनपचा अंश इसी छोटी आँत में पहुँचता है। पाचन के समय इस आँत के एक नली की राह से पित्त –कोष का पित्त रस तथा दूसरी नली द्वारा क्लोम ग्रन्थि का क्लोम रस आकर मिल जाता है। इस आँत से भी एक प्रकार का रस निकलता है, जिसे 'अम्लरस 'कहते हैं। पाकस्थली से आये हुए अपच अंश को इन तीन रसों द्वारा पीसा जाता है, जिसके फलस्वरुप खाद्य पदार्थ का सार भाग पचकर रक्त के रूप में बदल जाता है तथा निस्सार भाग कुण्डली जैसी आँत में घूमता हुआ मल के रूप में नीचे भेज दिया जाता है।

पक्काशय के बाद छोटी आँत दो भाग में बँटी है, जिन्हें क्रमशः जेजूनम तथा हृत्पिण्ड (इलियम) कहा जाता है। छोटी आँत पक्काशय के अन्तिम भाग से प्रारम्भ होकर टेढ़ी–मेढ़ी होती हुई, नीचे दाईं ओर के बड़ी आँत के प्रारम्भिक भाग पर समाप्त होती है। इसी जगह 'आत्रपुच्छ' नामक एक लम्बी थैली जुड़ी रहती है, जो अलग–अलग मनुष्यों के शरीर में स्थान बदल कर लटकी रहती है।

यह थैली' पेरीटोनियम' से संलग्न होती है तथा इसके भीतर अनेक धमनियों तथा तन्त्रिकाओं का जाल बिछा रहता है।

(ख) बड़ी आँतः– छोटी आँत जहाँ समाप्त होती है, वहाँ से बड़ी आँत आरम्भ होती है। यह छोटी आँत से अधिक चौड़ी तथा लगभग ५–६ फूट लम्बी होती है। इसका अन्तिम डेढ़ अथवा दो इंच का भाग ही 'मलद्वार' अथवा गुदा कहा जाता है। गुदा के ऊपर वाले चार इंच लम्बे भाग को 'मलाशय' कहते हैं। यह बड़ी आँत, छोटी आँत के चारों ओर घेरा डाले पड़ी रहती है।

छोटी आँत की तरह ही बड़ी आँत में भी 'कृमिवत्' आकुंचन होता है। इस गति के कारण छोटी आँत से आए हुए 'आहार रस' के जल भाग का शोषण होता रहता है। अनुमानतः २४ घण्टे में बड़ी आँत से ४०० सी० सी० पानी का शोषण होता है। यहाँ से भोजन रस का जलीय भाग रक्त में चला जाता है तथा गाढ़ा भाग मलवे के रूप में मलाशय में होता हुआ 'मलद्वार' से बाहर निकल जाता है।

बड़ी आँत के चार भाग होते हैं-

(१) प्रथम भाग आरोही बृहदान्त्र (२) दूसरे भाग को अनुप्रस्थ आन्त्र। (३) तीसरे भाग को अवरोही आत्र (४) चौथे भाग श्रोणी आन्त्र। इसका कीड़े के आकार वाला भाग आंत्र परिशिष्ट (वर्मीफार्म एपेन्डिक्स) लगभग साढ़े तीन इंच लम्बा होता है। इसका मुँह आन्त्र पुट में खुलता है। यह एक बन्द नल है, जिसकी क्रिया के विषय में अब तक जानकारी प्राप्त नहीं हो सकी।

(६) अग्न्याशय(पैंक्रियाज):- अग्न्याशय एक मिश्र कोशाकार और रेसीमोज ग्रन्थि होती है। यह ग्रन्थि उदर के पिछले हिस्से में आमाशय के पीछे आड़ी स्थित होती है। इसका आकार कुत्ते की जीभ जैसा होता है, जिसका सिरा प्लीहा तक और गोलाकार सिर ड्यूअडिनम् के मोड़ में फिट होता है। इसकी लंबाई १२ से १५ से०मी० होती है। इससे बाह्य तथा अंतःस्राव पैदा होते हैं। इसका बाह्य स्राव अग्न्याशयीरस कहलाता है। यह अग्न्याशय के असंख्य लघुकोषों द्वारा स्रावित होता है और एक मुख्य वाहिका में जमा होता है। यह वाहिका ग्रन्थि की पूरी लम्बाई में से गुजरती है तथा ड्यूऑडिनम् में पित्त नली के साथ खुलती है। अग्न्याशयी रस छोटी आँत में पूरी होने वाली पाचन क्रिया में बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य करता है।

अग्न्याशय के अन्तःस्राव को इन्सुलिन कहते हैं। यह स्राव कोशिकाओं के कुछ समूहों द्वारा तैयार किया जाता है। ये समूह अग्न्याशयी रस स्रावित करने वाले अग्न्याशय के लघुकोषों के बीच में होते हैं। इन समूहों तक बहुत सी रक्त कोशिकाएँ पहुँचती हैं। ये इन्टर एल्विओलर से आइलेट्स या आइलेटस आफ लेंगरहेंस कहलाते हैं। ये पूरी ग्रन्थि का बहुत छोटा भाग बनाते हैं। मगर उनका स्रवण सामान्य जीवन के लिए बहुत आवश्यक हैं।

इन्सुलिन कार्बोहाइड्रेट के चयापचय पर अधिकार रखती है। रक्त में इसकी उपस्थिति यकृत में या पेशियों में इसके संग्रहण या दहन के लिए आवश्यक है। इसके अभाव में व्यक्ति में डायबिटीज मैलिटस की अवस्था पैदा हो जाती है। इस अवस्था में व्यक्ति स्वाभाविक रूप से शर्करा को संग्रहीत नहीं कर सकता, इसलिए रक्त में तो ग्लूकोज अधिक होती है, परन्तु उत्तक इसका दहन भी नहीं कर पाते और यह मूत्र द्वारा विसर्जित हो जाती है। शरीर को ईंधन मिलना चाहिए, इसलिए ग्लूकोज की जगह वसा ही ईंधन के रूप में जलता है। चूँकि वसा का दहन तब तक पूर्ण नहीं होता जब तक उसके साथ ग्लूकेस न जलता हो, इसलिए वसा का दहन कुछ हद तक अपूर्ण होता है और परिणामस्वरुप

एसिटोन पिण्ड बनते हैं। गम्भीर अवस्थाओं में ये बहुत बड़ी मात्रा में बनते हैं और डायबिटिक कोमा (मधुमेह संमूर्च्छा )पैदा करते हैं। यदि रोगी को पर्याप्त मात्रा में इन्सुलिन देकर उस शर्करा को दहन करने में और इसके द्वारा वसा के पूर्ण विखण्डन में मदद न की जाये तो यह घातक हो सकता है।

**(७) यकृत(लीवर):–** यकृत शरीर में सबसे बड़ी ग्रन्थि है। इसका भार लगभग १.४ किलोग्राम होता है और रंग गहरा भूरा लाल। यह उदर में दाहिनी ओर डायफ्राम के नीचे उससे सटा हुआ होता है। इसकी निचली ओर नाशपाती के आकार की एक थैली होती है, जिसे पित्ताशय कहते हैं। यकृत में दो मुख्य खण्ड होते हैं। दाहिना और बायाँ। दायाँ खण्ड बायें से बड़ा होता है और कोलन के दाहिने कोलिक फ्लैक्सर तथा दाहिने गुर्दे के ऊपर होता है। बायाँ खण्ड दायें की तुलना में छोटा होता है और आमाशय के ऊपर होता है। दोनों खण्ड छोटे लोब्यूल्स के बने होते हैं। ये सामान्य यकृत कोशिकाओं के बने होते हैं, जो न्युक्लिअस युक्त बड़ी कोशिकाएँ होती हैं और अनेक महत्वपूर्ण कार्य करती हैं। यकृत में पोर्टल शिरा आहार युक्त रक्त तथा हिपैटिक धमनी ऑक्सीजन युक्त रक्त लाती है। तीन हिपैटिक शिराएँ यकृत से इन्फीरिअर वेना केवा (निचली महाशिरा) तक रक्त ले जाती है। यकृत से दाहिनी और बाँई पित्त नलिकाएँ पित्त ले जाती हैं। इन दोनों से मिलकर बनी पित्त नलिका पित्ताशय की नलिका से मिलकर पित्तनली बनाती है, जो ड्यूिऑडिनम् में खुलती है।

यकृत में पोर्टल शिरा तथा हिपैटिक धमनी कई छोटी–छोटी वाहिकाओं में विभाजित हो जाती है। ये वाहिकाएँ यकृत के लोब्यूल्स (खंडिकाओं) के बीच में से गुजरती हैं तथा इन्टर लोब्यूलर शिराएँ तथा धमनियाँ कहलाती हैं। इन्हीं से लोब्यूल्स में स्थित यकृत की कोशिकाओं के बीच कोशिकाएँ जाती हैं। ये कोशिकाएँ अपना रक्त लोब्यूल के मध्य में स्थित शिरा में डाल देती है, जो अपना सारा रक्त हिपैटिक शिराओं में अन्य शिराओं के माध्यम से उड़ेलती हैं। ये शिराएँ पोर्टल कोशिकाओं से प्राप्त रक्त तथा हिपैटिक धमनी के द्वारा यकृत तक पहुँचने वाली ऑक्सीजन युक्त रक्त, इस तरह दोनों प्रकार का रक्त ले जाती हैं।

लोब्यूल्स (खंडिकाओं) के बीच छोटी पित्त वाहिकाएँ भी होती हैं, जिनमें लोब्यूल्स में स्रावित पित्त रस पित्त कोशिकाओं द्वारा उड़ेला जाता है। ये पित्त वाहिकाएँ दाहिनी और बायीं यकृतीय नलिकाओं में खाली होती है, जो मिलकर कौमन हिपैटिक नली बनाती है। यह नलिका पित्ताशय से आने वाली नलिका से मिलकर पित्त नली बनाती है। जब पाचन के लिए पित्त की आवश्यकता

नहीं होती, तो पित्त रस पित्ताशय से आने वाली नलिका से मिलकर पित्त नली बनाती है। जब पाचन के लिए पित्त की आवश्यकता नहीं होती तो पित्त रस पित्ताशय से आने वाली नलिका से ऊपर जाता है तथा पित्ताशय में संग्रहीत और गाढ़ा किया जाता है।पित्ताशय ३० से ६० मि०ली० रस जमा रख सकता है, मगर चूँकि इसकी दीवार पानी शोषित कर सकती है इसलिए वह धीरे-धीरे गाढ़ा होता जाता है। जब भोजन ड्यूऑडिनम् में पहुँचता है तो पित्त नली के मुँह पर स्थित अवरोधक पेशी शिथिल हो जाती है तथा पित्ताशय में जमा पित्तरस पित्ताशय की दीवार के संकुचन से आँत में पहुँचाया जाता है। यकृत के कार्यों को तीन विभागों में बाँटा जा सकता है।

**(१) चयापचय संबंधी कार्य(मेटाबोलिक फंक्शन्स):-** (१) संचित वसा को ऊर्जा देने के लिए तोड़ा जाता है। इस क्रिया को डीसेचुरेशन कहते हैं। (२) अधिक एमिनो एसिड्स तोड़े जाते हैं तथा यूरिआ में बदले जाते हैं। (३) नशीले पदार्थों तथा विषों का निर्विषीकरण किया जाता है। (४) कैरोटिन से विटामिन (ए) संश्लेषित किया जाता है। (५) यकृत ही शरीर को ताप देने वाला मुख्य अंग है। (६) प्लाज्मा प्रोटीन संश्लेषित किये (बनाये) जाते हैं। (७) घिसी पुरानी उतक कोशिकाओं को तोड़कर उनसे यूरिया और यूरिक अम्ल बनाये जाते हैं। (८) अधिक कार्बोहाइड्रेट्स को वसा में बदला जाता है। जिससे वह वसा डिपो में जमा हो सके। (९) एमिनों एसिड्स से प्रोथ्रॉम्बिन तथा फाइब्रिनोजन संश्लेषित किये जाते हैं। (१०) रोग प्रतिकारक(एण्टी वडीज) तथा प्रतिजीव विष यहाँ तैयार होती है। (११) हिपैरिन यहाँ तैयार होता है।

**(२) संग्रहक कार्य(स्टोरेज फंक्शन्स):-** (१) विटामीन 'ए' तथा 'डी' संग्रह होते हैं। (२) अम्लता विरोधी तत्व संग्रह होते हैं। (३) भोजन तथा घिसे पुराने लाल रक्त कणों से लोह (आयरन) जमा होता है। (४) ग्लूकोस को ग्लाइकोजन के रूप में संग्रहित किया जाता है, और जरूरत पड़ने पर इन्सुलिन की उपस्थिति में उसे पुनः ग्लूकोस में परिवर्तित कर दिया जाता है।

**स्रवण के कार्य(सेक्रेटरी फंक्शन्स):-** रक्त द्वारा लाये गये घटकों से पित्तरस बनाया जाता है।

**ग्लूकोस का संग्रहः-** छोटी आँत के विलाई द्वारा शोषित सारा ग्लूकोस पोर्टल शिरा द्वारा यकृत में लाया जाता है। यकृत की कोशिकाएँ उतकों की आवश्यकता से अधिक ग्लूकोज को अघुलनशील ग्लाइकोजन में बदल देती हैं और केवल उतना ही ग्लूकोज रक्त प्रवाह में जाने देती हैं जितने की आवश्यकता

होती है। ग्लूकोज की अधिक मात्रा यकृत में ग्लाइकोजन के रूप में तब तक संग्रहित रहती है, जब तक उसकी आवश्यकता नहीं पड़ती। आवश्यकता पड़ने पर इसे पुनः ग्लूकोज में बदल दिया जाता है, जिसे रक्त घोल के रूप में ले जाता है। यह क्रिया अग्न्याशय द्वारा स्रावित इन्सुलिन में बदल दिया जाता है। जिसे रक्त घोल के रूप में ले जाता है। यह क्रिया अन्याशय द्वारा स्रावित इन्सुलिन द्वारा की जाती है। इन्सुलिन के अभाव में ग्लूकोस सामान्य तरीके से ग्लाइकोजन में नहीं बदला जा सकता। अतः रक्त शर्करा की मात्रा अधिक हो जाती है और इस अवस्था को हाइपोग्लाइसीमिया कहते हैं।

(३) यूरिआ बनना:– हमारे द्वारा खाये गये प्रोटीन आहार के पाचन से बनने वाले एमिनो एसिड्स का शोषण छोटी आँत की विलाई द्वारा किया जाता है और ये पोर्टल शिरा द्वारा यकृत तक लाये जाते हैं। शरीर के उतकों की टूट–फूट की मरम्मत के लिए आवश्यक तथा वृद्धि के लिए आवश्यक एमिनो एसिड्स यकृत से सीधे रक्त प्रवाह में चले जाते हैं। कुछ रक्त प्रोटीन बनाने के काम आते हैं। अधिक प्रोटीन या द्वितीय श्रेणी के प्रोटीन जो उतक बनाने के काम के नहीं होते, यकृत में तोड़े जाते हैं और उनसे निम्न पदार्थ बनते हैं।

(क) शरीर के लिए ईंधन जो कार्बन, हाइड्रोजन तथा आक्सीजन का बना होता है। तथा (ख) यूरिया जो प्रोटीन्स की नाइट्रोजन से युक्त पदार्थ है तथा अज्वलनशील होने के साथ ही शरीर निर्माण के लिए उपयोगी नहीं होने से व्यर्थ होता है। यूरिया घुलनशील पदार्थ होता है तथा रक्त इसे यकृत से गुर्दे तक उत्सर्जन के लिए ले जाता है।

(८) पित्ताशय –पित्त का स्रावण:– पित्त यकृत कोशिकाओं द्वारा स्रावित एक गाढ़ा पीला सा हरा द्रव होता है। यह क्षारीय होता है। यकृत प्रतिदिन औसत एक लीटर पित्त स्रावित करता है। पित्त में पानी, पित्त लवण, पित्त रंजक होते हैं। पित्त लवणों के कारण पित्त क्षारीय होता है। इसमें अकार्बनिक तथा कार्बनिक दोनों तरह के लवण होते हैं। कार्बनिक लवणों में कोलेस्टेरॉल होता है, जो सामान्य गॉल स्टोन का मुख्य घटक होता है। पित्त रंजक नष्ट हुई लाल रक्त कणिकाओं की हीमोग्लोबिन से मिलते हैं और आहार नाल के मार्ग से ही शरीर के बाहर निकाले जाते हैं। इन्हीं के कारण मल उसके विशिष्ट रंग का दिखाई देता है। पित्त रंजकरक्त में भी होते हैं और मूत्र का रंग भी इन्हीं के कारण होता है।

**पित्त के कार्य निम्न हैंः**–(१) यह क्षारयुक्त होने के कारण छोटी आँत में वसा का पायसीकरण करने तथा साबुनीकरण करनें में सहायता करता है। इस तरह वसा की कुल सतह का क्षेत्रफल बढ़ जाता है तथा एन्जाइम्स की उन पर होने वाली क्रिया बढ़ जाती है। (२) यह आँतों में पैरिस्टेल्सिस की क्रिया को उत्तेजित करता है। इस तरह यह एक प्राकृतिक मृदुरेचक है। (३) यह रक्त से रंजक तथा विषाक्त पदार्थों जैसे मदिरा और दूसरी नशीली वस्तुओं के उत्सर्जन का माध्यम है। (४) यह मल के लिए गन्धहर का काम करता है तथा मल की दुर्गन्ध कम करता है। कहा जाता है कि यह केवल इसलिए होता है कि पित्त की कर्मा के कारण वसा का पाचन ठीक से नहीं होता, परिणामस्वरुप वसा आँत में काफी मात्रा में रहता है और दूसरे अन्न पर तह जमा लेता है और उनका पाचन एवं शोषण नहीं होने देता परिणामस्वरुप न पचे हुए प्रोटीन जीवाणु की क्रिया से सड़ने लगते हैं और काफी मात्रा में सल्फ्यूरेटेड हाइड्रोजन गैस बनाते हैं, जिससे वैसी ही दुर्गन्ध आती है। जैसे असाधारण मल से, गंदे नालों से तथा सड़े अण्डों से आती है।

(९) **प्लीहा(स्प्लीन)**:– प्लीहा लसीकीय उतक का एक बड़ा नोड्यूल है। कार्य के मान से यह रक्त परिसंचरण तंत्र का ही भाग है। यह गहरे बैंगनी लाल रंग की होती है तथा आमाशय के पीछे उदर के पिछले भाग में बाँयीं तरफ कुछ ऊँचे स्थित रहती है। यह तन्तुमय कैप्स्यूल में बंद रहती है तथा तन्तुमय डोरियाँ सम्पूर्ण ग्रन्थि के आसपास सहारे युक्त जाल बनाती हैं। इस जाल के बीच की जगहें लुगदी जैसे पल्प पदार्थ से भरी रहती है, जिसे स्प्लीनिक पल्प कहते हैं। यह इस अँग का मुख्य पदार्थ है जिसमें विभिन्न प्रकार की कोशिकाएँ रहती हैं। उनमें से कई रक्त और लिम्फनोड्स के लिम्फोसाइटस के समान होती है और ये रक्त प्रवाह के लिए ताजे सफेद रक्ताणुओं के निर्माण में सहायता करती हैं। अन्य कोशिकाएँ फैगोसाइटस या भक्षक कोशिकाएँ होती हैं, जो टूटने जैसे लाल रक्तकणों का भक्षण करके उन्हें विखंडित कर देती हैं। प्लीहा के कार्य के पूर्णरूप से ज्ञात नहीं है लेकिन इसके कार्य निम्न माने जाते हैं–(१) यह रक्त प्रवाह के लिए ताजे लिम्फोसाइटस का स्रोत है। (२) यह लाल रक्ताणुओं के क्षय का एक स्थान है। (३) ऐसा भी सोचा जाता है कि संक्रमण के विरुद्ध लड़ने में प्लीहा सहायता करती है; क्योंकि जब कुछ बीमारियों [जैसे कि मलेरिया एवं टाइफाइड बुखार] में रक्त संक्रमित हो जाता है तब यह बढ़ जाती है।

संभवतः यह संक्रमण के विरूद्ध लड़ने के लिए एन्टिबॉडीज के निर्माण में सहायता करती है।

## आहार पाचन की अवस्थाएँ

(१) खाये हुए आहार को आदानकर्मा(ग्रहण करने वाली) प्राण वायु कोष्ठ (आमाशय) में ले जाती है। आमाशय में जब अन्न प्रविष्ट हो जाता है तो आमाशय स्थित द्रव (क्लेदक कफ) द्वारा उसका संघात (कड़ापन) भिन्न-भिन्न हो जाता है तथा क्लेदक कफ में वर्तमान स्नेहांश से वह आहार कोमल हो जाता है।

(२) फिर समान वायु से प्रेरित उदर की अग्नि (पाचकाग्नि) प्रबल होकर उचित समय पर सममात्रा में खाये गये उस अन्न को आयु आदि की वृद्धि के लिए उचित रूप से पकाती है। जिस प्रकार एक पात्र में चूल्हे के ऊपर रखा हुआ जल और चावल को बाह्याग्नि पकाती है।

(३) उसी प्रकार आमाशय में रहने वाले आहार को आमाशय में अधः प्रदेश में रहने वाली पाचकाग्नि उचित रूप में पकाकर रस एवं मल को उत्पन्न करती है।

# ॥ पंचमोऽध्यायः॥

## पाचन संस्थान के रोग

**विबन्धः–** मलमूत्र के वेग धारण से, चिरकालिक अग्निमान्द्य के होने से, विषम काल में आहार करने पर, उपवास या अल्पाहार के बाद तथा कई व्याधियों में जब क्षुद्र व बृहद् आंत्र की पेशियाँ शिथिल हो जाती है और उनका शोषण व आकुञ्चन प्रसारण की गति कम हो जाती है और [illegible]य से मलत्याग नहीं होता, एक बार के बदले दो तीन बार जाने पर भी मल की सफाई नहीं होती। कभी-कभी केला के अधिक खाने पर मल का त्याग एक दिन, दो दिन, तीन दिन या चार दिन बाद होता है। इन सब लक्षणों को विबंध के नाम से पुकारते हैं।

**चिकित्साः–**

(१) छोटी हरीतकी चूर्ण एक चम्मच सोने से पूर्व।

(२) त्रिफला चूर्ण एक चम्मच सोने से पूर्व।

(३) बिल्व चूर्ण+हरीतकी चूर्ण एक चम्मच सोने से पूर्व।

## अजीर्ण

**क्षेत्रीय नामः–** अ०–अजीर्ण, हि०–गु० अपच, अं०–इनडाइजेशन।

**कतिपय शारीरिक कारणों यथा–** अत्यधिक आहार एवं जल का सेवन, आहार एवं निद्रा में अनियमितता एवं मानसिक कारणों तथा ईर्ष्या, भय, क्रोध, आदि से जाठराग्नि (पाचक रसों) की मंदता हो जाती है। इससे ऐसी अवस्था उत्पन्न हो जाती है कि रोगी सात्म्य, लघु (हल्का) और समय पर किये हुए आहार को पचाने में भी असमर्थ हो जाता है। यह स्थिति अजीर्ण रोग के नाम से जानी जाती है।

**लक्षणः–** अजीर्ण, थकान, शरीर का भारीपन, अपानवायु का अवरोध एवं कब्ज या द्रव मल प्रवृत्ति, ये सामान्य लक्षण हैं।

**चिकित्सा– एकौषध प्रयोगः–** (१) हरीतकी फल चूर्ण एक से तीन ग्राम समान प्रमाण में शर्करा के साथ दिन में दो बार भोजन से पूर्व लें। (२) शुण्ठी चूर्ण एक से तीन ग्राम गुड़ के साथ दिन में तीन बार लें।

**सामान्य योगः–** (१) हरीतकी फल, शर्करा एवं द्राक्षा समान भाग में लेकर कल्क (चटनी) बनायें। इसे तीन से छः ग्रा०दिन में दो बार खाने से पूर्व, शहद से साथ लें। (२) शुण्ठी एक ग्रा०, हरीतकी आधा चम्मच, मधुयष्ठी आधा चम्मच भोजन के बाद सुबह सायं। (३) बार–बार जल पीवें। (४) सैन्धव, हरीतकी फल मज्ञा, पिप्पली के फल एवं चित्रक की जड़ के समभागों का चूर्ण एक ग्रा० दिन में दो बार भोजन के बाद गरम पानी के साथ लें।

**मिश्रित योगः–** (१) हिंग्वष्टक चूर्ण– एक से दो ग्रा० गरम पानी के साथ दिन में दो बार भोजन के पूर्व या भोजन के साथ लें। (२) शंखभस्म–या प्रवाल भस्म– पच्चीस ग्रा० से पाँच ग्रा० निम्बू स्वरस के साथ दिन में दो बार भोजन से पूर्व। (३) रसोनादि वटी-- एक से दो वटी गरम पानी के साथ दिन में दो या तीन बार भोजन के बाद लें।

## अग्निमान्द्य

**क्षेत्रीय नामः–** अ०–अग्निमान्द्य, हि०–दुष्पाचन, अं०– डिसपेप्सिया।

अग्निमान्द्य रोग में जाठराग्नि (पाचक रसों) की मंदशक्ति के कारण आहार का उचित पाचन नहीं होता। तेरह प्रकार की अग्नियों में जाठराग्नि अत्यन्त महत्वपूर्ण है, अतएव व्याधि की आम दोष के अन्य विकारों में प्रगति को रोकने के लिए मंदाग्नि की उचित चिकित्सा की जाती है।

**लक्षणः–** अजीर्ण, क्षुधाल्पता, स्वादहानि, लालास्राव, खट्टी डकार तथा पेट में भारीपन अग्निमांद्य के मुख्य लक्षण हैं।

**अग्निमांद्य कारणः–** अधिक जल पीने से, विषम आसन से, वेग विधारण तथा दिन में सोने तथा रात्रि में जागने से समय पर किया सात्म्य एवं लघु अन्न भी नहीं पचता। ईर्ष्या,भय तथा क्रोध से युक्त, अन्न का लोभी, दीनता या मनोग्लानि से युक्त एवं अन्न से द्वेष करने वाले व्यक्ति द्वारा सेवन किए हुए अन्न का सम्यक् परिपाक नहीं होता।

चिन्ता, शोक, भय, क्रोध तथा असुखकर शय्या के कारण, रात्रि जागरण करने से मात्रा पूर्वक खाया हुआ भोजन नहीं पचता।

**चिकित्साः–** अग्निमांद्य में ऐसी औषधियों का प्रयोग करना चाहिए जो अग्नि को बढ़ाये एवं कफ को कम करे।

**एकऔषध प्रयोगः–**

(१) आर्द्रक (अदरक) पाँच ग्रा० दिन में दो बार नमक या गुड़ के साथ भोजन से पूर्व लें। (२) हरीतकी चूर्ण तीन ग्रा० दिन में दो बार गुड़ या नमक के साथ भोजन से पूर्व लें। (३) निम्बू स्वरस सात से चौदह मि०ली० दिन में तीन बार भोजन के बाद लें।

**सामान्य योगः–** (१) काली मिर्च एवं नमक, प्रत्येक का एक ग्राम चूर्ण, काटे हुए आधे नींबू पर रखें एवं आग गरम करें और दिन में २–३ बार भोजन के साथ चूसें। (२) पिप्पली एवं नमक, प्रत्येक का एक ग्राम चूर्ण नींबू स्वरस के साथ दिन में दो बार भोजन के साथ लें।

**मिश्रित योगः–**

(१)लवणभास्कर चूर्ण–एक से तीन ग्रा० गरम पानी या नींबू स्वरस के साथ भोजन से पूर्व दिन में दो बार लें। (२) हिग्वष्टक चूर्ण– एक से तीन ग्रा० गरम पानी या नीम्बू स्वरस के साथ दिन में दो बार भोजन से पूर्व या भोजन के साथ लें। (३) चित्रकादिवटी– एक से दो वटी गरम पानी के साथ दिन में दो बार भोजन से पूर्व लें। (४) शिवक्षार पाचन चूर्ण– तीन से छः ग्रा० गरम पानी के साथ भोजन के बाद दिन में दों बार लें। (५) रसोनादि वटी– एक से दो वटी गरम पानी के साथ दिन में दो बार भोजन से पूर्व लें। (६) शंखवट्टी– एक से दो वटी गरम पानी से दिन में तीन–चार बार। (७) जीरकाद्यरिष्ट– १४ से २८ मि०ली० दिन में दो बार भोजन के बाद समान मांत्रा में पानी मिला कर लें।

## अतिसार

**क्षेत्रीय नामः–** हि०–दस्त आना, बं– अतिसार, उ०गु० मरा०– झाड़ा, जुलाब, पं०– दस्त, अं०– एक्यूट डायरिया।

अतिसार रोग में रोगी द्रव पुरीष बार–बार त्याग करता है। चिकित्सा की दृष्टि से अतिसार को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। यथा–
(१) आमातिसार। (२) पक्वातिसार।

(१) **आमातिसारः–** जब रोगी चिकना, दुर्गन्धयुक्त मल त्याग करता है, जो पानी में डूब जाता है तब उसे आमातिसार कहते हैं।

(२) **पक्वातिसारः–** जब अतिसार का रोगी शरीर का हल्कापन महसूस करे एवं उसका पुरीष पानी में डूबे नहीं, तब उस स्थिति को पक्वातिसार कहा जाता है।

**अतिसार रोग उत्पन्न होने के कारणः–**

(१) गुरु आहार ग्रहण करना अर्थात् मात्रा से अधिक भोजन करना या जो द्रव्य कठिनाई से पचते हैं, उन्हें ग्रहण करना जैसे– उड़द।

(२) अधिक तेल या घृत युक्त पदार्थ ग्रहण करना।

(३) अतिरूक्ष भोजन करना।

(४) अधिक ऊष्ण पदार्थों का सेवन करना।

(५) अति द्रव सेवन करना–अत्यधिक भोजन के समान ही प्रभाव आन्त्र की गति को बढ़ाने में होता है। अधिक जल पान से पाचक रसों का घोल मृदु हो जाता है, जिससे भोजन पर पूरी क्रिया नहीं होती और अजीर्ण उत्पन्न हो जाता है और दूसरे जल की निश्चित मात्रा का शोषण ही बृहदान्त्र के द्वारा हो सकता है। मात्राधिक्य होने से उसका शोषण नहीं होता। अतः वह आन्त्र की पुरश्चरण गति को बढ़ाकर जल बहुल अतिसार को उत्पन्न करता है।

(६) विरूद्ध भोजन करना। इसके निम्न भेद हैं–(१) संयोग विरूद्ध। (२) देश विरूद्ध। (३) काल विरूद्ध। (४) मात्रा विरूद्ध। (५) अग्नि विरूद्ध। (६) सात्म्य विरूद्ध। (७) संस्कार विरूद्ध। (८) काष्ठ विरूद्ध। (९) अवस्था विरूद्ध। (१०) क्रम विरूद्ध। (११) परिहारोपचार विरूद्ध। (१२) पाक विरूद्ध। (१३) हृदिविरूद्ध। (१४) सम्पद विरूद्ध। (१५) विधि विरूद्ध।

(७) भोजन पचा नहीं है उसके पहले ही भोजन कर लेना।

(८) काल विरूद्ध भोजन करना।

(९) विष प्रयोग से।

(१०) भय, शोक, दूषित जल, मद्यपान करने से।
(११) ऋतु विपर्यय एवं सात्म्य विपर्यय से।
(१२) अत्यधिक जल क्रीड़ा।
(१३) वेग विधारण।
(१४) कृमिदोष से मनुष्यों को अतिसार होता है।

**आमातिसार चिकित्साः—** (१) भूना जीरा, मोथा की जड़ या पिप्पली या शुण्ठी चूर्ण ५ ग्रा० एक लीटर जल में मिलाकर चार भागों में बाँटें, ६ घण्टे पर एक मात्रा प्रयोग करें। (२) शुण्ठी चूर्ण १ से ३ ग्रा० समान मात्रा में चीनी के साथ दिन में दो बार लें।

**सामान्य प्रयोगः—** कुटज बीज, दालचीनी खस की जड़, जामुन के बीज, विल्वफल, मज्ञा समान भाग लेकर चूर्ण करें—३ से ६ ग्रा० की मात्रा में तक्र के साथ दिन में ३ बार लें। (२) जायफल, जीरा का फल एवं बिल्वफल मज्जा के चूर्णों को समान भाग में लें। इसे चूने के पानी में पीसकर इसकी ८०० मि०ली० वजन की गोलियाँ बनायें। पित्त प्रधान अतिसार में एक गोली प्रातः चावल के धोवन के साथ लें एवं कफ प्रधान अतिसार में २४ से ७० मि०ली० कर्पूर के पानी के साथ लें। (३) सोंठ एक ग्रा०, सौंफ आधा चम्मच, ईसवगोल भूसी एक ग्रा० जल के साथ—सुबह, दोपहर, सायं। (४) बिल्व चूर्ण, आधा चम्मच, नागरमोथा आधा चम्मच, कुटज आधा चम्मच— सुबह सायं जल से लें।

**मिश्रित योगः—** (१) भुवनेश्वर रस— एक से दो ग्रा० पानी के साथ दिन में दो बार प्रातः, सायं। (२) रामवाण— २५० ग्रा० से ५०० मि०ग्रा० शहद के साथ दिन में दो बार।

**पथ्यः—** हल्का भोजन यथा मूँग का सूप जो सोंठ से सिद्ध किया हुआ हो या १०० से २५० ग्रा० चावल ६ ग्रा० घी के साथ सेवन करायें।

**पक्वातिसार चिकित्साः—** (१) बिल्वफल मज्ञा चूर्ण तीन से छः ग्रा०,१०० से २५० मि०ली० तक्र के साथ मिलाकर दिन में ३—४ बार दें। (२) कुटज की छाल या इन्द्रयव (कुटज बीज) का चूर्ण ३ से ६ ग्रा०, १०० से २५० मि०ली० तक्र के साथ मिलाकर दिन में ३—४ बार लें।

**मिश्रित योगः—** द्रव पुरीष प्रवृत्ति को रोकने में निम्न औषधियाँ उपयोगी हैं; परन्तु इनका प्रयोग सावधानी पूर्वक करना चाहिए, चिकित्सक के निर्देश से प्रयोग करें तो अच्छा है।

(१) कर्पूर वटी–१ या २ गोली (१४० से १८० मिली०ग्रा०) शहद के साथ दिन में दो बार लें।

(२) लाई चूर्ण– एक से तीन ग्रा० दिन में तीन बार तक्र के साथ लें।

## उदर शूल

**क्षेत्रीय नाम :–** हि०– शूल, म०–वेदना, मरा०–पोटदुखी, अं०– कोलिक।

**परिभाषा :–** पेट में तीव्र पीड़ा होने के कारण इसे शूल रोग कहा जाता है।

## आमज शूल

**क्षेत्रीय नाम :–** बं०–आमजशूल, गु०– अजीर्ण, हि०– आमशूल, अं०–इन्टैसटाइनल कोलिक।

**लक्षण :–** भोजन करने के बाद बढ़ने वाली तेज पीड़ा, अरुचि, लालास्राव, उत्क्लेश, उल्टी होना, वायु का अवरोध, आमाशय में गुड़गुड़ की आवाज होना, कब्ज, शरीर में दर्द आमजशूल के मुख्य लक्षण हैं।

**चिकित्सा :– एकौषध प्रयोग**– ७ से १४ मि०ग्रा० बीजपुर नींबू रस १ ग्रा० यवक्षार के साथ दिन में दो बार सेवन करें।

**सामान्य योग :–** (१) सैंधव, कृष्णलवण, विडलवण, पंचकोल व हींग समभाग लेकर घी में सेंक कर १२ ग्रा० की मात्रा में गर्म पानी के साथ दिन में सेवन करें। (२) १४ से २८ मि०ली० शिग्रुछाल का काढ़ा, १ ग्रा० हींग व एक ग्राम यवक्षार के साथ दिन में दो बार सेवन करना लाभकारी है। (३) घी में भूनी हुई एक ग्राम हींग गुड़ के साथ दिन में दो बार लें। (४) एक ग्राम नारिकेल क्षार, गर्म पानी के साथ दिन में तीन बार सेवन करना चाहिए।

**मिश्रित योग :–** (१) हिंग्वाष्टक चूर्ण– एक से तीन ग्राम गर्म पानी के साथ दिन में तीन बार सेवन करना चाहिए। (२) शिवाक्षार पाचन चूर्ण– दो से तीन ग्राम गर्म पानी से।

## अजीर्ण जन्य शूल

**क्षेत्रीय नाम :–** ब०–अजीर्ण जन्य शूल, गु०– अजीर्णशी दुःखावो, हि०– अजीर्णशूल, मरा०–अजीर्ण वा पोतदुःखी, अं०– पेनड्यू टू इनडाइजेश। अपच के कारण होने वाला दर्द अजीर्ण जन्य शूल कहलाता है।

**चिकित्सा :–** अजीर्ण किस प्रकार का भोजन करने से हुआ है, पहले इसका पता लगावें फिर तद्नुसार चिकित्सा की जाती है।

**सामान्य चिकित्सा:–** शुद्ध नौसादर–५० ग्राम, कालीमिर्च–१५० ग्राम, कालानमक–५० ग्राम, भूनी हींग–५० ग्राम कूट, कपड़छन करके हींग मिलाकर बना लेना चाहिए मात्रा एक ग्राम से तीन ग्राम गर्म जल से दो बार।

**अजीर्ण व आमजशूल के कारण:–** अधिक जल पीने से, विषमाशन से वेग विधारण तथा दिन में सोने व रात्रि जागरण से, ईर्ष्या, भय, क्रोध से युक्त, लोभी (अन्न का) रोग, दीनता, मनोग्लानि से युक्त एवं अन्न से द्वेष करने वाले व्यक्ति द्वारा सेवन किए हुए अन्न का सम्यक् परिपाक नहीं होता और अपक्वरस (आम) की उत्पत्ति होकर आमज शूल को उत्पन्न करता है।

**चिकित्सा:–** (१) मधुयष्ठी चूर्ण आधा चम्मच, शुण्ठी चूर्ण एक ग्रा०, आमलकी चूर्ण आधा चम्मच–सुबह, दोपहर, सायं गरम जल से। (२) पीसी अंजवायन आधा चम्मच सैंधव नमक एक चौथाई चम्मच–सुबह, सायं गरम जल से। (३) सौंफ चूर्ण एक चम्मच, मुलेठी चूर्ण एक चम्मच– सुबह, सायं गरम जल से।

**अन्नद्रवशूल के कारण:–** जीर्ण आमाशय शोथ (क्रोनिक गैस्ट्राईटिश) या आमाशयिक व्रण (गैस्ट्रिक अल्सर) है। इसके कारण नाभि के ऊपरितन प्रदेश में पीड़नाक्षमता होती है। अन्न जब तक आमाशय में रहता है, शूल शान्त नहीं होता। वमन द्वारा बाहर निकल जाने पर तथा ग्रहणी में चले जाने पर शूल कुछ समय के लिए शान्त हो जाता है।

**चिकित्सा:–**(१) अविपत्तिकर चूर्ण एक चम्मच भोजन से पहले जल से। (२) आमलकी आधा चम्मच, मधुयष्ठी आधा चम्मच–जल से। (३) शरपुंखा चूर्ण आधा चम्मच, कालमेघ चूर्ण आधा चम्मच– सुबह, दोपहर, सायं जल से। (४) धनिया का चूर्ण एक चम्मच, मिश्री एक चम्मच– सुबह, दोपहर, सायं जल से।

**परिणाम शूल:–** यह शूल ग्रहणी के आरम्भिक प्रदेश (ड्यूडिनम) में उत्पन्न व्रण के कारण होता है, जो कि पच्यमानावस्था के पश्चात् अनुभव किया जाता है, यह भोजन के तीन से चार घण्टे के बाद देखा जाता है। इसके अन्य लक्षणों में उरोदाह, उत्क्लेश एवं वमन आदि होते हैं।

**चिकित्सा:–** (१) आमलकी चूर्ण आधा चम्मच, मधुयष्ठी चूर्ण आधा चम्मच–प्रातः, सांय जल से। (२) मधुयष्ठी चूर्ण आधा चम्मच, सौंफ चूर्ण एक चम्मच– सुबह, सायं जल से। (३) महागंधक वटी दो गोली भोजनोपरान्त सुबह, सायं । (४) आमलकी चूर्ण एक चम्मच भोजन के बाद जल से।

## कृमिजन्यशूल के कारण

**क्षेत्रीय नामः–** हि०–कृमि जन्य शूल, मरा०–कृमिजपोट दुःखी।

**लक्षणः–**आन्त्रज कृमियों के कारण होने वाली तीव्र पीड़ा को कृमिजन्य शूल कहते हैं। इसके अन्य लक्षणों मे भूख न लगना, अतिसार, ऊर्जा का ह्रास, ज्वर व चक्कर आना मुख्य है।

**चिकित्साः–** (१) वायविडंग चूर्ण एक ग्राम, अजवायन चूर्ण एक ग्राम– सुबह, सायं गरम जल से। (२) गुड़ एक चम्मच, शुण्ठी चूर्ण एक ग्राम वायविडंग एक ग्राम– सुबह, सायं गरम जल से। (३) वायविडंग एक ग्राम, त्रिफला चूर्ण एक ग्राम–रात्रि को सोते समय। (४) वायविडंग चूर्ण आधा चम्मच, आमलकी चूर्ण एक चम्मच– प्रातः सायं गरम जल से।

## पित्ताश्मरी जन्य शूल

**क्षेत्रीय नामः–** गु०–पथरी, हि०– पित्ताशय की अश्मरी, पित्त की पथरी, मरा०– पित्ताशमरी जन्य पोट दुःखी, अं०– बिलियरी कोलिक।

पित्ताश्मरी के कारण होने वाले दर्द को पित्ताश्मरी जन्य शूल कहते हैं। वेदना पेट के ऊपरी हिस्से के दाहिने तरफ होती है। जो दाहिने अंशफलक तक जाती है। ज्वर होता है तथा वसा का प्रयोग असहनीय हो जाता है एवं पीलिया भी उत्पन्न हो सकता है।

**चिकित्साः–** (१) काल मेघ चूर्ण आधा चम्मच, शरपुंखा चूर्ण आधा चम्मच, मधुयष्ठी चूर्ण आधा चम्मच– सुबह, दोपहर, सायं गरम जल से। (२) कुटकी एक ग्राम, शुद्ध नौसादर एक ग्राम– दिन में दो बार जल से।

## वृक्कशूल

**लक्षणः–** मूत्राशय, गवीनी, मूत्रमार्ग व वृक्क में पथरी होने के कारण दर्द व रक्त के साथ थोड़ा–थोड़ा मूत्र आये तो वह वृक्कशूल जाना जाता है।

**चिकित्साः–** (१) गोक्षरू चूर्ण आधा चम्मच, वरूण चूर्ण आधा चम्मच, पुनर्नवा चूर्ण आधा चम्मच– प्रातः, दोपहर, सायं गरम जल से। (२) आमलकी चूर्ण आधा चम्मच, गोक्षरू चूर्ण एक चम्मच, अमृता चूर्ण आधा चम्मच – प्रातः सायं, गरम जल से। (३) शुद्ध टंकण आधा चम्मच गरम पानी से सुबह, सायं।

## अम्लपित्त

**क्षेत्रीय नामः–** हि०– खट्टी डकार, गु०–अम्लपित्त, मरा०–ढ़ेकार्ड योणे, अं०–हाइपर एसिडिटी।

**अम्लपित्त के कारणः–** (१) आमाशय और पच्यमानाशय के व्रण। (२) अत्यधिक धूम्रपान। (३) विरूद्ध भोजन, विकृत भोजन, अत्यधिक अम्ल विदाही तथा पित्त प्रकोपक भोजन पान करने से अम्ल विरूद्ध होकर अम्ल पित्त नामक रोग उत्पन्न करता है। यह रोग आमाशय में अत्यधिक अम्ल बनने के कारण होता है, जिससे रोगी गले व हृदय क्षेत्र में जलन महसूस करता है।

**लक्षणः–** कड़वी या खट्टी डकारें, गले एवं हृदय में जलन, मिचली, क्षुधाल्पता, अजीर्ण, थकान एवं शरीर का भारीपन, अम्ल पित्त के मुख्य लक्षण हैं।

**चिकित्साः–**(१) धनिया क्षीर पाक दो चम्मच, मिश्री दस ग्राम को दो पाव दूग्ध+एक पाव पानी में पकायें, दो पाव शेष रहने पर ठण्डा करके सुबह, सायं पीना चाहिए। (२) आमलकी चूर्ण आधा चम्मच, मधुयष्ठी चूर्ण आधा चम्मच–प्रातः, दोपहर, सायं जल से। (३)अविपत्तिकर चूर्ण एक चम्मच भोजन से पूर्व सुबह, दोपहर, सायं। (४) हर्र का चूर्ण मुनक्का के साथ खाने से अम्ल पित्त अच्छा होता है। (५) त्रिफला, परवल के पत्ते, नीम के छाल और गिलोय– प्रत्येक ६–६ माशे जौ कूट कर आधा सेर पानी में पकायें चतुर्थांश क्वाथ बनाकर, क्वाथ को शीतल कर शहद मिलाकर पीने से अम्लपित्त नष्ट होता है।

## कृमिरोग

**क्षेत्रीय नामः–** अ०–कृमि, गु०– किरमिया, हि०– पेट के कीड़े, अं०–वर्म इनफैस्टेशन। कृमि रोग नामक व्याधि में रोगी के शरीर या आँतों में कृमियों की उपस्थिति पायी जाती है।

**कारणः–** अजीर्ण अवस्था में ही भोजन करने वाले, मधुर और अम्ल पदार्थों का अत्यधिक सेवन करने वाले, द्रव बहुल पदार्थों के प्रेमी, पिष्टमय पदार्थ एवं गुड़ का अधिक सेवन करने वाले, दिन में सोने वाले तथा विरूद्ध भोजन करने वाले को कृमि रोग हो जाता है।

**लक्षणः–** क्षुधामांद्य, शिथिल पुरीष, या अतिसार, उदर शूल, ज्वर त्वक् वैवर्ण्य, जिह्वा वैवर्ण्य, श्रम, भ्रम आदि कृमि रोग के सामान्य लक्षण हैं।

**चिकित्साः–** (१) विडंग चूर्ण एक चम्मच प्रातः, सायं जल से। (२) महानिम्ब पत्र स्वरस सात से चौदह मि०ली० की मात्रा में सममात्रा मधु के साथ दिन में दो बार लेना चाहिए। (३) पलाश बीज स्वरस को १४ से २८ मि०ली० की मात्रा में तक्र के साथ दिन में दो बार लेना चाहिए। (४) आमलकी चूर्ण आधा चम्मच, वायविडंग चूर्ण आधा चम्मच–सुबह, सायं जल से। (५) कबीला एक ग्राम प्रातः– गुड़, दही के साथ।

# अर्श

**क्षेत्रीय नामः–** हि०–बवासीर, गु०–मसा, मरा०–मूलव्याध,
अं०– हेमोराइड्स, पाईल्स।

अर्श उस स्थिति का नाम होता है जिसमें गुद प्रदेश में विविध रंग, आकार व नाप के मांसल उत्सेध सिरा ग्रन्थिता के परिणाम स्वरूप अंकुरित होते हैं। चिकित्सा सिद्धान्तों के परिपेक्ष्य में इसके दो प्रकार होते हैं, शुष्कार्श एवं स्रावी अर्श।

**लक्षणः–** गुदा में मांसल उत्सेधों का अंकुरित होना, वात (अपान) मार्ग अवरोध, मलत्याग में वेदना, क्षुधामांद्य एवं विबंध ये अर्श रोग के सामान्य लक्षण हैं। इनके अतिरिक्त शुष्क एवं स्रावी अर्शों में निम्नलिखित लक्षण विशेष रूप से पाये जाते हैं।

**शुष्कार्शः–** जिन अर्शों से रक्त का स्रवण नहीं होता, उन्हें शुष्कार्श कहा जाता है। इस प्रकार के अर्श वायु एवं कफ की प्राधान्यता से उत्पन्न होते हैं।

**स्रावी अर्श(रक्तार्श):–** स्रावी अर्श पित्त एवं रक्त की प्रधानता के कारण उत्पन्न होते हैं। इस विकार में रोगी सहसा चमकीला लाल रक्त, मल के साथ वेग से विसर्जित करता है। कभी–कभी तो यह इतनी मात्रा में विसर्जित किया जाता है कि रोगी में रक्ताल्पता (पाण्डु) जैसे उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं।

**चिकित्सा (शुष्कार्श):–** (१) आमलकी चूर्ण एक चम्मच, मधुयष्ठी चूर्ण एक चम्मच– प्रातः, सायं, भोजनोपरांत जल से। (२) त्रिफला चूर्ण एक चम्मच या छोटी हरीतकी चूर्ण एक चम्मच– रात्रि में सोते समय। (३) ८ तोला काला तिल हर्रे के क्वाथ में खूब खरल करें। इतना घोटें कि तिलों का छिलका पिस कर क्वाथ में विलीन हो जाए। इसे धूप में सुखाकर चूर्ण कर लें। इस चूर्ण में चित्रकमूल चूर्ण एक तोला, हर्रे दो तोला और गुड़ दो तोला मिलाकर इसकी ५० मात्रा बनायें। गर्म जल के साथ सेवन करने से मल कड़ा नहीं पड़ता और प्रतिहारिणी सिरा का रक्त संवहन व्यवस्थित होता है, जिससे गुद नलिका के रक्त स्रोतों का दबाव कम होता है, यह योग सगर्भा को त्याज्य है।

**चिकित्सा(रक्तार्श):–** (१) नागकेशर चूर्ण आधा चम्मच, प्रातः, सायं मक्खन के साथ। (२) आमलकी चूर्ण एक चम्मच, मधुयष्ठी चूर्ण एक चम्मच– प्रातः, सायं, जल से। (३) हरीतकी चूर्ण एक चम्मच या त्रिफला चूर्ण एक चम्मच– रात्रि को जल से। (४) काला तिल दस ग्राम, मक्खन दस ग्राम– प्रातः, खाकर दुग्ध पीवें दो माह तक।

## ॥ षष्ठमोऽध्यायः॥

## श्वसन तंत्र (संस्थान)

जीव एवं बाह्य वातावरण के बीच गैसों का आदान –प्रदान निरंतर चलता रहता है। मनुष्य तथा सभी उच्चतर जन्तुओं में इस कार्य के लिए एक विशेष उपकरण होता है, जिसे श्वसन अंग या श्वसन तंत्र कहते हैं। जिसके अतंर्गत निम्न अवयव आते हैं– श्वसन अंग–(१) नासागुहा, (२) कण्ठ, (३)श्वासनली, (४) श्वसनी तथा (५) फुफ्फुस। श्वसन अंगों को उनके कार्यों के आधार पर वायु मार्ग एवं श्वसन मार्ग में विभाजित किया गया है। फुफ्फुसी कूपिकाएँ श्वसन भाग बनाती हैं, क्योंकि वायु एवं रक्त के बीच गैसीय आदान – प्रदान इन कूपिकाओं में होता है। शेष सभी श्वसन अंग वायु मार्ग है। जिनके बीच उच्छवासित तथा निःश्वासित वायु गुजरती है।

ग्रसनी भी एक वायु मार्ग है, क्योंकि श्वसन के समय वायु नासा गुहा से कण्ठ तक जाते समय इसके ही द्वारा नासा तथा मुख भागों में से गुजरता है।

श्वसन अंगों का एक संरचनात्मक गुण होता है कि इनमें से अधिकांश की दीवारों की रचना अस्थिमय होती है। इसीलिए ये भग्न नहीं हो जाती है और हमेशा इनमें वायु विद्यमान रहती है। सभी वायु मार्गों पर श्लेष्मा झिल्ली की परत चढ़ी रहती है, जिसमें पक्ष्मा भी उपकला होती है। श्लेष्मा झिल्ली में ऐसी ग्रंथियाँ होती हैं, जो इसके समतल पर श्लेष्मा भाग स्रवित करती है। धूल तथा रोगाणु जो वायु के साथ आते हैं श्लेष्मा पर ही चिपक जाते हैं। इस प्रकार वायु मार्ग को धूल कणों एवं रोगाणुओं से स्वच्छ रखते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य कार्यों यथा– सूँघने की क्रिया एवं ध्वनि उत्पन्न क्रिया से सम्बन्धित है। घ्राण क्रिया का अंग नासा गुहा में स्थित है, इसी अंग की सहायता से मनुष्य गंध ग्रहण करता है। ध्वनि का उत्पादन अंग कण्ठ है।

(१) **नासा गुहाः–** श्वसन तंत्र का प्रथम भाग है नासा गुहा। नासागुहा में वायु दो छिद्रों (नासा द्वारों) में से प्रवेश करती है। नासागुहा का पंजर अस्थियों और उपास्थियों का बना होता है। नासागुहा में उर्ध्व, निम्न दो पार्श्व दीवारें और एक सेप्टम में विभेद किया गया है। नासागुहा के ऊपर अग्र कपालीय खात है, नीचे मुख गुहा होती है, पार्श्व में कक्ष तथा विवर तथा पश्च में नासाग्रसनी है। नासागुहा में वायु धूल कणों से स्वच्छ की जाती है, गर्म की जाती है तथा तर (नम) की जाती है। नासागुहा आन्तरनासा रंध्र नामक दो छिद्रों द्वारा नासाग्रसनी के साथ सम्बन्ध रखती है। नासाग्रसनी से वायु ग्रसनी के मुख भाग में आती है और फिर कण्ठ में आती है।

(२) **कण्ठः–** कण्ठ, ग्रीवा में चौथे से छठें ग्रीवा कशेरूक के स्तर पर स्थित होता है। अग्ररूप से यह ग्रीवा की पेशियों द्वारा कण्ठास्थि के नीचे ढका हुआ होता है। पार्श्व में यह अवटु ग्रन्थि की बड़ी वाहिकाओं के साथ जुड़ा होता है। इनमें सबसे बड़ी उपास्थि अवट उपास्थि आसानी से स्पर्श की जा सकती है। कण्ठ उपास्थियों द्वारा बनता है। इसके पीछे ग्रसनी होती है तथा कण्ठच्छद जिह्वा के पीछे स्थित होता है। निगलने के समय यह कण्ठ का प्रवेश द्वार बंद कर देता है तथा भोजन को श्वसन मार्ग से दूर रखता है। मुद्रिका उपास्थि कण्ठ के आधार पर स्थित होती है, जो मुद्रिका स्नायुबन्ध तथा संधियों की सहायता से आवाज निकलती है। कण्ठ दीवार के दोनों ओर एक अवकाश होता है, जिसे कण्ठ निलय कहते हैं। कण्ठ से ही वायु गुजरती है जो ध्वनि उत्पादक है। जिह्वा, मुखगुहा, ओष्ठ तथा नासाकोटर वाक् उच्चारण में सहायता करते हैं। सातवें ग्रीवा कशेरूक के स्तर पर कण्ठ श्वास नली के साथ मिल जाता है।

(३) **श्वासनलीः–** श्वासनली लगभग १२ से०मी० लम्बी होती है। श्वासनली स्नायु द्वारा सम्बन्धित उपास्थियों के अर्द्ध छल्लों द्वारा बनती है। श्वासनली की पश्च दीवार मृदु होती है। यह संयोजी उतक झिल्ली से बनी होती है और ग्रासनली के साथ भलीभाँति बँधी हुई होती है। इस पर श्लैष्मा झिल्ली की परत चढ़ी हुई होती है। जो श्लैष्मा स्रावित करती है। श्वासनली वक्ष कोटर में प्रवेश करती है तथा चौथे या पाचवें वक्ष कशेरूक द्वारा यह दो श्वसनियों में विभाजित हो जाती है।

(४) **श्वसनीः–** दक्षिण एवं वाम श्वसनी मूल श्वसनियाँ हैं। ये फुफ्फुसों में प्रवेश करती हैं तथा छोटी–छोटी श्वसनियों में विभाजित हो जाती है। इनकी रचना भी श्वासनली की दीवारों जैसी होती है। दक्षिण श्वसनी अधिक चौड़ी होती है, लेकिन वाम श्वसनी से छोटी होती है तथा श्वासनली के साथ प्रत्यक्ष जुड़ी होती है।

(५) **फुफ्फुसः–** ये वक्ष गुहा में स्थित होते हैं। दक्षिण व वाम दो फुफ्फुस होते हैं, प्रत्येक फुफ्फुस की आकृति शंकु जैसी होती है। इसका ऊपरी भाग थोड़ा संकीर्ण होता है, जिसे शिखर कहते हैं। नीचे का भाग चौड़ा होता है, जिसे आधार कहते हैं। शिखर ग्रीवा में जत्रुक के २–३ से०मी० ऊपर तक फैला होता है तथा आधार डायफ्राम के ऊपर स्थित होता है। फुफ्फुस के तीन तल होते हैं पर्शुका, डायफ्राम और मध्यवकाशीय। मध्यवकाशीय तल मध्य भाग की ओर होता है तथा इसमें एक अवकाश भाग होता है, जिसे फुफ्फुस का द्वार कहते हैं। यह द्वार श्वसनी, फुफ्फुस धमनी, दो फुफ्फुस शिरों तथा लसीका वाहिकाओं के

लिए मार्ग बनाता है। फुफ्फुस में प्रवेश करने पर मूल श्वसनी छोटी श्वसनियों में विभाजित हो जाती है। फुफ्फुस में सम्पूर्ण श्वसनी तंत्र श्वसनी वृक्ष कहलाता है। सबसे छोटी श्वसनी (व्यास ०.३–०.४ मि०मि०) श्वसनिका कहलाती है।

दक्षिण फुफ्फुस में तीन अंश होते हैं और वाम में दो प्रत्येक अंश परस्पर खाँचों द्वारा पृथक किये होते हैं। प्रत्येक अंश खण्डों में विभाजित होता है, जिसमें उसी आकार की श्वसनी होती है। दक्षिण फुफ्फुस में ११ खण्ड होते हैं, वाम फुफ्फुस में १० खण्ड होते हैं। प्रत्यके खण्ड में अनेक फुफ्फुस पालिकाएं होती हैं, इनके बीच संयोजी उत्तक की परतें होती हैं। पालिका में एक श्वसनी होती है, ये श्वसनिकाएँ कूपिका वाहिकाओं के जाल के आगे स्थित होती हैं। गैस विनिमय कूपिका की दीवार और कोशिकाओं में स्थान लेता है। ऑक्सीजन रक्त में इसी कूपिका से प्रवेश करती है तथा कार्बन डायऑक्साइड रक्त से कूपिका में प्रवेश करती है। कूपिका फुफ्फुस का श्वसन भाग है। श्वसनी इसका वायु वाहक भाग है।

**"श्वसन का महत्त्व एवं क्रिया"**

जीव को न केवल पोषक पदार्थ बल्कि ऑक्सीजन की भी परम आवश्यकता होती है; क्योंकि चयापचय की क्रिया में उत्तक निरंतर ऑक्सीजन को ग्रहण करते और कार्बन डाईऑक्साइड का उत्पादन करते रहते हैं। ऑक्सीजन की कमी उत्तकों व जीव को नष्ट कर देती है। रक्त उत्तकों को आक्सीजन देता है तथा उपापचय प्रक्रिया में बनी कार्बन डाईआक्साइड को निष्कासित करता है। चूँकि ऑक्सीजन का लगातार उपभोग होता रहता है तथा कार्बन डायऑक्साइड इकट्ठी होती रहती है। यह प्रक्रिया फुफ्फुसों में निरंतर बनती रहती है, इसे ही फुफ्फुस श्वसन कहते हैं। अर्थात् रुधिर फुफ्फुस कूपिका से ऑक्सीजन प्राप्त करता है और कूपिका को कार्बन डाईआक्साइड देता है।

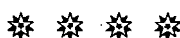
फुफ्फुसों में गैसीय विनिमय फुफ्फुसी कूपिका विद्यमान ऑक्सीजन व कार्बन डाईआक्साइड के दाबों में अन्तर और फुफ्फुसों में प्रवाह करने वाले शिरा रुधिर पर आधारित होता है। रुधिर की तुलना में कूपिका में ऑक्सीजन का दाब अधिक होता है। इसी कारण फुफ्फुस में से ऑक्सीजन रक्त में प्रवेश करती है और कार्बन डाईऑक्साइड का परिवहन करता रहता है। रक्त में विद्यमान अधिकांश ऑक्सीजन आक्सीहीमोग्लोबिन नामक एक अस्थायी रासायनिक यौगिक के रूप में होती है। फुफ्फुसों में रहने वाले रक्त के प्लाज्मा में विलीन ऑक्सीजन रक्ताणु हीमोग्लोबिन के साथ मिल जाता है और

आक्सीहीमोग्लोबिन बनाता है। जब तक पूरा हीमोग्लोबिन आक्सीहीमोग्लोबिन में विलीन नहीं होता, तब तक रक्त में आक्सीजन नहीं घुलती, जब वातावरण की वायु का सामान्य अवस्थाओं में श्वसन होता है, तो ९६ प्रतिशत हीमोग्लोबिन आक्सीहीमोग्लोबिन में परिवर्तित हो जाता है, जिसके परिणामस्वरूप रक्ताणुओं में रुधिर प्लाज्मा की अपेक्षा ६० गुनी अधिक आक्सीजन होती है, इससे यह निश्चित हो जाता है कि उत्तकों को गैसीय विनिमय के लिए पर्याप्त एवं आवश्यक आक्सीजन की मात्रा प्राप्त हो चुकी है। जो फुफ्फुसों के लिए आवश्यक होती है।

**उच्छावसन एवं निःश्वसन क्रिया विधिः—** बार–बार सांस का अंदर जाना एवं बाहर निकलना ही उच्छवसन या अन्तःश्वसन व वहिर्श्वसन या नियवसन कहलाता है। निःश्वसन के समय पेशियाडायाफ्राम, बाह्य अंतरापर्शुका पेशिका इत्यादि संकुचित हो जाती है। जब डायफ्राम संकुचित होता है तो नीचे आ जाता है और वक्ष गुहा का आकार बढ़ जाता है, बाह्य अन्तरापर्शुक और अन्य पेशियों के संकुचित होने पर शिरे उठ जाते हैं और इस प्रकार वक्ष गुहा के आगे पीछे थोड़ा तिरछा आकार बढ़ जाता है, जिससे पेशियों के संकुचन से वक्ष की क्षमता बढ़ जाती है। जिसके कारण फुफ्फुस भी फैलते हैं। तब उनमें वायु का दाब कम हो जाता है, तब वातावरण की वायु, वायु मार्गों से फुफ्फुसों में पहुँच जाती है।

निःश्वसन के बाद उच्छवसन होता है। इस अवस्था में निश्वसन में भाग लेने वाली पेशियाँ विश्रांति की अवस्था में आती है। इस पेशिय संकुचन के कारण वक्ष की क्षमता कम हो जाती है, तब फुफ्फुस संपीडित होते हैं और उनके अंदर दाब बढ़ जाता है तथा वायुमार्गों से वायु बाहर चली जाती है।

श्वसन संचलन आवर्तित होता है। एक वयस्क व्यक्ति विराम की सामान्य अवस्था में १६ से २० बार श्वसन क्रिया करता है। बच्चों में यह संख्या अधिक होती है–प्रतिमिनट ६० के लगभग। शारीरिक थकान के कारण तीव्र श्वसन क्रिया होती है। तीव्र श्वसन गहरा नहीं होता। निद्रा की अवस्था श्वसन के धीमा हो जाने से प्राप्त होती है।



# ॥ सप्तमोऽध्यायः॥

## श्वसन तंत्र के रोग

### १. कास

**क्षेत्रीय नामः–** गु०–खाँसी, हि०– खाँसी, मरा०– खोकला, अं०– कफ।

चिकित्सा के आधार पर कास को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है– (१)शुष्क कास, (२) आर्द्र कास।

**(१) शुष्क कास–**

**क्षेत्रीय नामः–** गु०– सूखी खाँसी, हि०– सूखी खाँसी, मरा०– सूखा खोकला, अं०– ड्राईकफ। जिस खाँसी में कफ प्रसेक नहीं होता, उसे शुष्क कास कहा जाता है।

**लक्षणः–** बारंबार सूखी खाँसी होना, वक्ष प्रदेश में शूल, शिर, कनपटियों, उदर एवं पार्श्व प्रदेश में शूल, उरोदाह या वक्ष में घुटन, ज्वर, मुँह सूखना, तृषाधिक्यता, कटुकास्यता, स्वर भेद आदि इस रोग के मुख्य लक्षण हैं।

**चिकित्साः–** (१) लवंग या विभीतक फल मज्ञा को घी में तल कर रख लेना चाहिए तथा जब भी खाँसी आये मुँह में चूसते रहना चाहिए। (२) वासा पत्र स्वरस १४ मि०ली० में सममात्रा घृत एवं शर्करा भी मिलाकर दिन में दो बार लेना चाहिए। (३) ५० ग्रा० रवड़ी खाकर ऊपर से गरम जल लेवें, दिन में दो बार। (४) ५ अमरूद की पत्ती, ५ लसोड़ा की पत्ती पीसकर थोड़ा नमक मिलाकर क्काथ बनावें, सुबह, सायं सोते समय लेवें। (५) वासा चूर्ण आधा चम्मच, कंटकारी चूर्ण आधा चम्मच , मधुयष्ठी चूर्ण आधा चम्मच– सुबह, सायं गरम जल से। (६) पिप्पली मूल व शुण्ठी समान मात्रा में लेकर चूर्ण बना लें। इसकी १ से ३ ग्रा० की मात्रा दिन में दो बार, ४ से ६ ग्रा० मधु के साथ लेनी चाहिए। (७) सितोपलादि चूर्ण– १ से ३ ग्रा० दिन में दो बार मधु के साथ लेना चाहिए। (८) लवंगादिवटी– दिन मे ४ से ६ बार १–१ गोली चूसते रहें। (९) एलादिवटी १–१ गोली ४ से ६ बार दिन भर चूसना चाहिए। (१०) बृहद्पंचक मूल क्काथ–१४ से २८ मि०ली० में ०.५ ग्राम पिप्पली फल चूर्ण मिलाकर दिन में दो बार लेना चाहिए। (११)वासावलेह– १२ से २४ ग्रा० दिन में दो बार लेना चाहिए।

**कुकुरकास के लिए विशेष उपचारः–** (१) आर्द्रक स्वरस १४ मि०ली० सममात्रा में मधु के साथ दिन में दो बार। (२) मधुयष्टि चूर्ण ५६ ग्रा०, तुलसीमंजरी

२८ ग्रा०, पिप्पली फल २८ ग्रा०, कण्टकारी ५६ ग्रा०, १ ली० पानी में उबालें। चतुर्थांश रहने पर उताकर छान लेवें। इसमें ५६ ग्राम शर्करा, ५ ग्रा० वचा चूर्ण मिलाकर सीरप बना लें। इसे १४ से २८ मि०ली० की मात्रा में दिन में दो बार लेना चाहिए। (३) कण्टकारी क्वाथ–१४ से २८ मि०ली० में १२० मि०ग्रा० पिप्पली चूर्ण मिलाकर दिन में दो बार लेना चाहिए।

### (२) आर्द्रकास

**क्षेत्रीय नामः–** हि०– गीली खाँसी, मरा०–कफखोकला, अं०– कफ विद एक्सपैक्टोरेशन। जिस खाँसी में बलगम निकलता है, इसे आर्द्रकास कहा जाता है।

**लक्षणः–** इस रोग में बार–बार खाँसी आती है, जिसमें बहुत सा गाढ़ा कफ निःसरित होता है। रोगी का पूरा मुँह कफावृत रहता है, उसे दिन भर आलस्य एवं शिरः शूल बना रहता है। क्षुधामांद्य एवं शरीर में भारीपन भी रहता है।

**चिकित्साः–** (१) भारंगी चूर्ण, वासाचूर्ण, मधुयष्टी चूर्ण– एक चम्मच प्रातः, सायं गरम जल से। (२) पिप्पली चूर्ण– एक ग्रा० मधु से दो बार सुबह, सायं। (३) हल्दी चूर्ण आधा चम्मच, जीरा चूर्ण आधा चम्मच, शुण्ठी चूर्ण एक चौथाई, काली मिर्च चूर्ण दस नग, गुड़ दस ग्राम–२५० ग्रा० जल में पकायें, आधा शेष रहने पर सुबह, सायं लेवें। (४) त्रिकटु एक ग्राम सममात्रा में शर्करा मिश्रित कर दिन मे दो बार लेवें। (५) सितोपलादि चूर्ण १ से ३ ग्रा०, ४–६ ग्रा० मधु के साथ दिन में दो बार लेना चाहिए। (६) द्राक्षारिष्ट १४ से २८ मि०ली० सममात्रा में जल के साथ दिन में दो बार भोजनोपरान्त लेना चाहिए। (७) च्यवनप्राश– १२ से २४ ग्रा० दिन में दो बार लेना चाहिए।

### श्वास रोग

**क्षेत्रीय नामः–** गु०–दम, हि०– दमा, मरा०– दमा, अं०–डिसनिया, ब्रोंकियल अस्थमा।

सांस लेने में श्रम अनुभव करना या कठिनाई होना श्वास रोग कहलाता है। इस अवस्था में रोगी को सांस बाहर निकालते समय जोर लगाना पड़ता है एवं लोहार की धौंकनी जैसी गति होती है।

**लक्षणः–** श्वास रोग साधारणतः दो प्रकार का होता है–

(१) क्षुद्र श्वास।

(२) तमक श्वास।

इनका निम्न लक्षण हैं–

**(१) क्षुद्र श्वास (क्रोनिक ब्रोंकाईटिश) :–** यह सबसे कम कष्ट प्रद श्वास रोग है। इसका मुख्य लक्षण श्रम करने पर श्वास कष्ट का उत्पन्न होना है।

**(२) तमक श्वास (ब्रोंकियल अस्थमा) :–** यह अन्तराल पर श्वास कष्ट होने वाली व्याधि है। रोग के आक्रमण काल में अत्यधिक श्वास कष्ट का अनुभव होता है। इसमें तमः प्रवेश, तृषा तथा रोगी गतिहीन हो जाता है। बार–बार होने वाले कास के कारण रोगी मूर्छित हो जाता है एवं अधिक कष्ट का अनुभव करता है, जब तक कि कफ का निःसरण नहीं हो जाता। लेटने की अवस्था में रोगी को श्वास लेने में कठिनता के कारण वह सो नहीं पाता और बैठने पर आराम का अनुभव करता है। शीतल जल, शीतल वायु व ठंडा मौसम तथा कफ वृद्धि करने वाले आहार का सेवन करने से रोग बढ़ता है।

**चिकित्सा सूत्रः–** प्राणायाम का अभ्यास, विरेचक औषधि के सेवन से पेट साफ रखना, रात्रि में हल्के भोजन करना और पीने के लिए गर्म जल का प्रयोग करना चाहिए।

**चिकित्साः–** (१) कंटकारी पंचांग का ७ से १४ मि०ली० स्वरस या एक ग्रा० त्रिकटु चूर्ण दिन में २ बार लेना चाहिए। (२) ३ से ६ ग्रा० विभीतक मज्जा चूर्ण, ४ से ६ ग्रा० शहद के साथ दिन में दो बार लेना चाहिए। (३) १२ ग्रा० सरसों का तेल, १२ग्रा० गुड़ के साथ दिन में दो बार लेने से आराम मिलता है। (४) १ से ३ ग्रा० कटंकारी पंचांग चूर्ण ४ से ६ ग्रा० शहद के साथ दिन में दो बार या ३ बार सेवन करना चाहिए। (५) अपामार्ग क्षार– एक ग्राम दिन में दो बार सेवन करना चाहिए। (६) मयूरपिच्छ भस्म– एक से दो ग्राम शहद के साथ दिन में दो बार सेवन करनी चाहिए। (७) वासावलेह–१२ से २४ ग्राम दिन में दो बार सेवन करना चाहिए। (८) वासारिष्ट– १४ से २८ मि०ली० सम भाग पानी मिलाकर भोजन के बाद दिन में दो बार सेवन करना चाहिए। (९) कनकासव– ५ से १० मि०ली० समभाग पानी मिलाकर भोजनोपरान्त लेना चाहिए। इस औषध का प्रयोग उग्रघटक होने के कारण सावधानी पूर्वक किया जाता है। (१०) हर्र, बहेड़ा, ऑवला और छोटी पीपल का समभाग चूर्ण शहद में मिलाकर चाटने से श्वास, कास तथा ज्वर में आशातीत लाभ होता है।

**बाह्य प्रयोगः–** (१) पुराने घी में सैंधव मिलाकर छाती पर लेप करना चाहिए। (२) सरसों के तेल में सैंधव मिलाकर २५ मि०ली० तेल को छाती पर हल्की मालिश करना लाभप्रद है।

## प्रतिश्याय

**क्षेत्रीय नामः–** हि०, गु०– सर्दी, पं०,हि०– जुखाम, बं०–प्रतिश्याय।

**प्रतिश्याय के सामान्य कारण**

वेगों को रोकने से, अजीर्ण से, रज (धूलि) के सेवन से, अधिक बोलने से, अधिक क्रोध करने से, ऋतुओं के विषम होने से, सिर में वेदना होने से, रात्रि में अधिक जागने से, दिन में अधिक सोने से, शीतल जल पीने से, ओस लगने से, अधिक मैथुन करने से, अधिक रोने से, अधिक धुँवा लगने से, जब सिर में कफ आदि दोष अधिक एकत्र हो जाने से, शिरः प्रदेश में वायु बढ़ कर प्रतिश्याय रोग को उत्पन्न करता है।

**लक्षणः–** छीकें आना, शिर में भारीपन, शरीर में जकड़ाहट एवं पीड़ा ये प्रतिश्याय के पूर्व लक्षण हैं।

**प्रतिश्याय के विशिष्ट लक्षण निम्नवत हैं :–** (१) **वातिक प्रतिश्याय**– नासा शोथ के कारण नासिका में अवरोध होता है, उससे पतला स्राव निकलता है, छींक बहुत आती है, स्वर में उपघात हो जाता है और गल तालु, होठ सूखते हैं, ये वातिक प्रतिश्याय के समान्य लक्षण हैं।

(२) **पैत्तिक प्रतिश्याय**– नासिका से गर्म और पीला स्राव निकलता है और रोगी को ऊष्णता की प्रतीति होती है।

(३) **कफज प्रतिश्याय**– नासिका से श्वेत वर्ण शीतल स्राव होता है, शिर भारी हो जाता है।

(४) **सन्निपातिक प्रतिश्याय**– इसमें बार–बार प्रतिश्याय उत्पन्न हो जाता है।

**चिकित्साः–** (१) समप्रमाण में द्राक्षा, मरिच, वासापत्र, दालचीनी त्वक् और यष्टीमधु मूल के क्वाथ १४ से २८ मि०ली० को ५ से १० ग्राम शर्करा के साथ दिन में तीन बार लेना चाहिए। (२) बड़ी हर्र का छिलका और सोंठ आधा– आधा पाव दोनों को कूट–पीसकर कपड़छन कर पाव भर गुड़ मिलाकर झड़बेरी बेर बराबर गोलियाँ बना लें। दो–दो गोली सुबह, सायं चाय या पानी के साथ लेने से जुकाम शीघ्र अच्छा हो जाता है।

**मिश्रित योगः–** त्रिभुवन कीर्ति रस एक से दो वटी शहद की आवश्यक मात्रा से लेह बनाकर ७ से १४ मि०ली० आर्द्रक स्वरस के साथ दिन में दो बार लेना चाहिए।

**बाह्य प्रयोगः–** ६०० मि०ग्रा० शुण्ठी चूर्ण को ५ से १० मि०ली० दूध में घोलकर नस्य तैयार कर लें। इसकी २ से ४ बूंद नासिका में डालें यह बंद नासिका के लिए उपयोगी है।

# राजयक्ष्मा (टी०बी०) के कारण

चार कारण– (१) अयथाबल कार्य (२) मल–मूत्रादि आगत वेगों को रोकना। (३) धातुओं का क्षय। (४) विषम भोजन करना।

**(१)अयथाबल आरंभः–** अपनी शक्ति से अधिक शक्ति वाले पुरूष से युद्ध करना, अत्यधिक काल तक उच्चस्वर से अध्ययन करना, अत्यधिक भार उठाना, सहसा अत्यधिक रास्ता चलना, अत्यधिक लङ्घन, प्लवन (अत्यधिक तैरना), अधिक उच्च स्थान से गिर जाना, अधिक चोट लगना अथवा अन्य दूसरे अत्यधिक साहस जो अपनी शक्ति से अधिक हो।

**वेगसंधारणजन्यः–** मूत्र, पुरीष, अपान वायु आदि वेगों को रोकना।

**धातुक्षय जन्यः–** ईर्ष्या, द्वेष, उत्कष्ठा, भय, त्रास, क्रोध, शोक करने से शरीर अत्यन्त कृश होना, अत्यधिक मैथुन व उपवास से शरीर में शुक्र व ओज की हानि होकर राजयक्ष्मा की उत्पत्ति।

**विषमासन जन्यः–** भोजन व पानक का विषम रूप में सेवन करने से।

## राजयक्ष्मा

**क्षेत्रीय नामः–** हि०,गु०–तपेदिक, मरा०–क्षय, अं०– थाइसिस या ट्यूबर कुलोसिस।

**लक्षणः–**राजयक्ष्मा एक क्षयज रोग है जो कि मन्दज्वर, क्षुधानाश (अग्निमांद्य), रात्रि स्वेद और भारक्षय से अभिलक्षित होता है। अस्पष्ट प्रकृति के ज्वर में एक कारण राजयक्ष्मा भी हो सकता है। इसके अन्य लक्षण, शरीर का जो अंग ग्रसित होता है उस पर निर्भर करते हैं।

फुफ्फुस सबसे अधिक ग्रसित होने वाला अंग है और इस दशा में रोगी को सांयकालीन ताप वृद्धि , कास, रक्तवमन, स्वर विकृति, पार्श्वशूल और हस्त पाद तल में ऊष्मा प्रतीति आदि लक्षण होते हैं।

**चिकित्साः–** (१) रोगी के पाचन शक्ति के अनुसार मक्खन को शहद और १२–१४ ग्राम शर्करा के साथ देना चाहिए। (२) शुद्ध लाक्षाचूर्ण–एक से तीन ग्रा०, पाँच से दस ग्राम शहद के साथ दिन में तीन बार देना है। (३) पिप्पली चूर्ण– १ग्रा०, १२ से १४ ग्राम घृत और २५० मि०ली० गोदुग्ध के साथ दिन में तीन बार लेना चाहिए। (४) ताजे वासा पत्र का स्वरस १४ से २८ मि०ली० ५ से १० ग्राम घी के साथ दिन में तीन बार लेना है। (५) समप्रमाण में लिये गये अश्वगंध मूल, पिप्पली चूर्ण और शर्करा तीन से छः ग्राम को पाँच से दस ग्राम मधु के साथ दिन में तीन बार। (६) गुडूची तने का क्वाथ १४ से २८ मि०ली०,

१ ग्राम पिप्पली चूर्ण के साथ दिन में तीन बार लेना है। (७) महालक्ष्मी विलासरस– १ से २ वटी, ५ से १० ग्राम को मधु के साथ दिन में तीन बार। (८) स्वर्णवसन्त मालती(लघु)– १ से २ वटी, को ५ से १० ग्रा०, मधु के साथ दिन में तीन बार। (९) द्राक्षासव या द्राक्षारिष्ट– १४ से २८ मि०ली०, भोजनोपरान्त समप्रमाण जल के साथ दिन में दो बार। (१०) सितोपलादि चूर्ण– १ से ३ ग्रा०, ५ से १० ग्रा० मधु के साथ दिन में तीन बार। (११) जयमंगल रस ६० से २५० मि०ली०, ५ से १० ग्रा० मधु के साथ दिन में तीन बार। (१२) हर्र, बहेरा, आँवला, सोंठ, मिर्च, पीपल, बेर की गुठली की गिरी प्रत्येक ८–८ तोले, कपूर एक तोला, धान की खील ४८ तोले, इलायची, दालचीनी, तेजपात ४–४ तोले, वंशलोचन ३२ तोले और अमलवेत १६ तोले, – इन सबको चूर्ण कर लें। पश्चात् सबसे दुगुनी खाँड की चाशनी में चूर्ण को मिलाकर पाक जमा दें या मोदक बनालें। एक से ढाई तोले की मात्रा में इस पाक का सेवन करने से राजयक्ष्मा, रक्तपित्त, वमन, खाँसी और ज्वर नष्ट होते हैं। यह पाक हृदय के लिए भी लाभकारी है। (१३) वासा हरीतकी अवलेह– अडूसा (वासा) की जड़ की छाल या ताजे पत्ते ४०० तोले जल से धोकर और कूट कर अठगुने पानी में कलईदार कड़ाही में पकायें। एक चौथाई शेष रहने पर उतारकर ठन्डा होने पर कपड़े से छान कर, उसमें गुठली निकाली हुई–बड़ी हर्रों का चूर्ण २५६ तोला और चीनी ४०० तोला डाल कर पकायें। पकाते समय लकड़ी की करछी से चलाते रहें। जब अवलेह जैसा हो जाए तो नीचे उतारक रख दें। ठण्डा होने पर उसमें ३२ तोला शहद और वंशलोचन १६ तोला, छोटी इलायची ४ तोला, तेजपात ४ तोला, नागकेशर ४ तोला और काकडासिंगी ४ तोला– इन सबका कपड़छन चूर्ण और घी एक सेर मिलाकर काँच या चीनी मिट्टी के पात्र में रख लें।

इस अवलेह के सेवन से क्षय, श्वास, कास, रक्तपित्त और प्रतिश्याय में बहुत लाभ होता है। नये या पुराने कफ रोग या खाँसी या श्वास नलिका की सूजन में इस अवलेह का सेवन बहुत लाभप्रद है। इसके प्रयोग से कफ पतला होकर शीघ्र बाहर निकलता है, जिससे खाँसी और श्वास में आराम मिलता है। कफ रोगों में हृदय में बहुत शिथिलता आ जाती है, जो इस अवलेह के सेवन से दूर हो जाती है। इस अवलेह के सेवन से रक्त स्राव, रक्तयुक्त दस्त, अर्श, क्षय, रक्तप्रदर, रक्तपित्त आदि रोग अच्छे हो जाते हैं। बार–बार होने वाले जुकाम या पुराने जुकाम या खूनी बवासीर में बहुत लाभ होता है। बवासीर के रोगियों को प्रायः कब्ज की शिकायत रहती है, इस अवलेह के सेवन से कब्ज दूर हो जाता है।

**पथ्यः–** शालि, गोधुम, यवबीज, अजादुग्ध आदि राजयक्ष्मा के रोगी के भोजन के लिए उपयोगी है।

**अपथ्यः–** तेल में बने पदार्थ, बैंगन, करेला, बेल और अजाजी आदि राजयक्ष्मा के रोगी के लिए हानिकारक हैं। मैथुन, दिवाशयन और क्रोध को भी त्याग करना चाहिए।

## श्वसनक ज्वर (न्यूमोनिया)

**श्वसनक ज्वर के कारणः–** अन्न वस्त्र से रहित, दुबले, थके हुये, दुःखित हृदय एवं दीन अजीर्ण के रोगी, बहुत मद्य पीने वाले या वृक्क अथवा यकृत में शोथयुक्त व्यक्ति, मिथ्याहार–विहार करने वाले लोग, शीत वर्षा आदि से पीड़ित होने से या पूविगन्ध के सूँघने से या चोट लगने से या श्वसन रोगी के संपर्क में आने से श्वसन ज्वर उत्पन्न होता है।

**लक्षणः–** कंपकंपी के साथ तीव्र ज्वर, वक्ष एवं पार्श्वशूल, गाढ़े चिपचिपे बलगम के साथ बार–बार खाँसी, श्वास में कष्ट और वृद्धि, नासा का फूलना, सिकुड़ना (श्वसन के समय) मृदु, भारी और तीव्र नाड़ी जिसका अनुपात श्वसन के साथ २: १ का होता है। ललाट पर पसीना, शरीर का अत्यधिक भीगा रहना, थका सा महसूस करना, कमजोरी रूक्ष और मलिन जीभ, तन्द्रा, प्रलाप आदि श्वसनक ज्वर के लक्षण हैं।

**चिकित्साः–** सावधानियाँ– अत्यधिक तीव्रनाड़ी एवं श्वसन संकट की पूर्व सूचना है और इस दशा में रोगी को तुरन्त चिकित्सालय भेज देना चाहिए। (२) सिद्ध प्राणेश्वर रस– १ से २ वटी, ५ से १० ग्रा० शहद के साथ दिन में तीन बार लेना चाहिए। (३) १ से २ वटी, ५ से १० ग्रा० शहद के साथ दिन में तीन बार लेना चाहिए। (४) बृहत् कस्तूरी भैरव रस– ६० से १२० मि०ली० ग्रा० शहद के साथ दिन में तीन बार लेना चाहिए।

## हिक्का

**क्षेत्रीय नामः–** ब०–हिक्का, हि०– हिक्क, हिचकी, मरा०– उचकी, गु०– हेडकी।

उदान एवं प्राणवायु की विकृति से मुख से ''हिक–हिक'' शब्दों के साथ वायु बाहर निकलती है, साथ ही पेट में संकुचन भी उत्पन्न होता है। इस अवस्था को हिक्का कहते हैं। यह पाँच प्रकार की होती है, यथा– अन्नजा, यमला, क्षुद्रा, गम्भीरा एवं महती।

**चिकित्साः–** (१) काली मिर्च का चूर्ण– एक से दो ग्राम, पाँच से दस ग्राम शर्करा के साथ दिन में दो बार सेवन करें। (२) कदली मूल का रस– सात से चौदह मि०ली०, पाँच से दस ग्राम शर्करा के साथ दिन में दो बार सेवन करें। (३) पिप्पली फल, आमलकी फल मज्ञा, शर्करा एवं शुण्ठी सम भाग मिलाकर एक ग्राम की मात्रा में चार से छः ग्राम शहद के साथ दिन में दो बार सेवन करें। (४)–(क) यष्टिमधु मूल चूर्ण नस्य लें। (ख) नारी के दूध में चन्दन की लकड़ी को घिसकर नस्य के रूप में प्रयोग करें। (ग) निर्धूम अग्नि में उड़द की धूम का सेवन करें। (५) हर्र का चूर्ण गर्म जल के साथ पीने से हिचकी बन्द हो जाती है।

## गिलायु

**क्षेत्रीय नामः–** हि०–टान्सिल, मरा०– गल्याचारोग, गु०– काकरबढवो, अं०– टान्सिलाइटिस।

गले में छोटे, गोलाकृत, मांसल तन्तु टान्सिल कहलातें हैं। इनमें पैदा होने वाले शोथ को टान्सिलाइटिस कहा गया है।

**लक्षणः–** गले में वेदना व निगरण के समय होने वाली कठिनाई इसके प्रमुख लक्षणों में आते हैं।

**चिकित्साः–** निरंतर ज्वर के साथ तरुण गिलायु पाक के रोगियों को विशेषज्ञ से चिकित्सा लेनी चाहिए। (१) ६०० मि०ग्रा० फिटकरी, १००मि०ली० गरम पानी में मिलाकर बार–बार गण्डूष धारण करना चाहिए। (२) गरम–गरम अखरोट की पुल्टिस बनाकर गर्दन पर लेप के रूप में काम में लावें। (३) यष्टिमधु चूर्ण तीन ग्रा० की मात्रा में २५० मि०ली० दुग्ध के अनुपान से दिन में दो बार लेना चाहिए। (४) मरिच चूर्ण एक से तीन ग्राम की मात्रा में पाँच से दस ग्राम शर्करा के साथ दिन में दो बार लेना चाहिए। (५) उबलते चावल एक भाग, गुड़ एक भाग, ४ भाग पानी, जब पक जाए घी मिलाकर दिन में दो बार लेना चाहिए। (६) खदिरादिवटी– एक गोली चार से छः बार दिन में चूसने चाहिए। (७) हर्र और सोंठ का चूर्ण गर्म पानी के साथ खाने से स्वरभंग दूर हो जाता है। (८) हर्र की छाल, बच, ब्राह्मी, अडूसा और पिप्पली समभाग का चूर्ण छः माशे शहद के साथ चाटने से बैठी हुई आवाज खुलती है।

## स्वर भेद

**क्षेत्रीय नामः–** हि०– गला बैठना, बं०–स्वर भंग, मरा०– आवाज फूटने, आवाज बसने, अं०– हार्सनैस आफ बॉयस।

जिस व्याधि में आवाज बैठ जाती है (खर–खर हो जाती है।) उसे स्वर भेद कहते हैं।

**स्वर भेद के हेतुः–** बहुत ऊँचे स्वर से बोलना, विष सेवन, अधिक उच्चस्वर से अध्ययन तथा अभिघात सदृश प्रकोपक कारणों से प्रकुपित वायु स्वर वाही स्रोतों में अधिष्ठित होकर स्वर को नष्ट कर, स्वर भेद उत्पन्न करता है।

**लक्षणः–** आवाज का खर–खरापन, गलदाह, कम व धीरे–धीरे बोलना स्वरभेद के प्रमुख लक्षण होते हैं।

**चिकित्साः–** (१) मूलेठी की मूल को समय –समय पर चूसना चाहिए। (२) १४ से २८ ग्राम मधु चाट कर ऊपर से ५० मि०ली० कदुष्ण जल पी लेना चाहिए। (३) यष्टिमधु चूर्ण तीन ग्राम की मात्रा में २५० मि०ली० दुग्ध के अनुपान से दिन में दो बार लेना चाहिए। (४) सितोपलादिचूर्ण ३–६ ग्राम, ४–६ ग्राम मधु या ५–१० ग्राम घी के साथ दिन में दो बार लेना चाहिए। (५) खदिरादिवटी– एक गोली, ४–६ बार दिन में चूसने को दें।

## ॥ अष्टमोऽध्यायः ॥
## मूत्रवह संस्थान

**मूत्रवह संस्थानः–** मूत्रवह संस्थान के अंग–(१) वृक्क, (२) मूत्रप्रणाली, (३) मूत्राशय, (४) मूत्रमार्ग।

(१) **वृक्कः–** शरीर में जो अवयव मूत्र–निर्माण का कार्य करते हैं, उन्हें वृक्क अथवा गुर्दा कहा जाता है। ये संख्या में दो होते हैं– (१) दायाँ (२) बायाँ।

ये गुर्दे रीढ़ के दाईं ओर तथा बाईं ओर १२वीं पसली के सामने तथा चौथे कटि–कशेरूक के बीच रहते हैं। इन ग्रन्थियों का आकार 'गुठली' अथवा 'लोबिये के बीज' जैसा होता है। एक वृक्क आकार में पाँच इंच लम्बा, ढाई इंच चौड़ा तथा एक इंच मोटा और १५० ग्राम भार वाला होता है। इसका रंग कुछ बैंगनी जैसा होता है। दायाँ वृक्क कुछ नीचे तथा बायाँ कुछ ऊपर की ओर रहता है। वृक्क के ऊपर एक आवरण सा चढ़ा रहता है। प्रत्येक वृक्क का बाहरी भाग कुछ उन्नत तथा भीतरी भाग कुछ अवनत होता है। वृक्क के ऊपरी सिरे पर टोपी जैसी एक प्रणाली विहीन ग्रन्थि होती है, जिसे उपवृक्क कहा जाता है। इसके धँसे हुए भाग के बीच के छिद्र को ''हाईलम'' कहते हैं। प्रत्येक वृक्क के भीतर लगभग डेढ़ लाख अत्यन्त महीन नलिकायें होती हैं, जो आकार में एक दूसरे से भिन्न होती है।

**(२) मूत्र प्रणाली:–** वृक्क के दोनों ओर से एक– एक नली निकलती है, जिन्हें 'मूत्रप्रणाली' (यूरेटर्स) कहा जाता है। यह प्रणालियाँ मूत्र के तैयार होते ही उसे मूत्राशय (युरेनरी ब्लाडर) में पहुँचाने का कार्य करती हैं। मूत्राशय गुर्दे के भीतर ही रहता है। मूत्र प्रणाली एक छोटी सी नली होती है, जो कीड़े की भाँति गति करती है। इसका विस्तार गुर्दे से मूत्राशय तक ही रहता है। इनकी लम्बाई १० से १२ इंच तक पाई जाती है। इनके दो सिरे होते हैं। ऊपर वाला चौड़ा सिरा वृक्क से तथा नीचे वाला पतला सिरा 'वस्तिगह्वर' (पेलविस) में मूत्राशय (ब्लाडर) से मिला रहता है।

मूत्र पहले वृक्क (किडनी) की मीनारों से मूत्र प्रणाली के चौड़े भाग में आता है, फिर इसके द्वारा बहता हुआ मूत्राशय में जा पहुँचता है।

वृक्क का कार्य बूँद–बूँद करके मूत्र बनाना तथा उसे मूत्राशय में भेजना है। स्मरणीय है कि मूत्र के मुख्य अवयव वृक्क के भीतर तैयार न होकर शरीर के अन्य भागों में ही बनते हैं, वृक्क उन्हें रक्त से अलग करके मूत्र का रूप दे देता है।

**(३)मूत्राशय:–** इसे 'वस्ति' अथवा 'मसाना' भी कहते हैं। यह एक थैली जैसी होती है, जिसमें मूत्र प्रणालियों द्वारा लाया गया मूत्र संचित होता रहता है। यह उदर में सबसे निचले भाग में वस्तिगह्वर (पेलविस) में रहता है। पुरुषों में यह मलांग के सामने की ओर तथा स्त्रियों में जरायु के सामने वाले भाग में रहता है। खाली होने पर आकार तिकोना होता है तथा भर जाने पर यह बिल्कुल गोल हो जाता है। मूत्र से भर जाने पर यह उठा रहता है। इसके भर जाने पर मनुष्य को मूत्र त्यागने की इच्छा होती है।

मूत्राशय समान्यतः ५ इंच लम्बा तथा ३ इंच चौड़ा होता है। इसमें ७ औंस तक मूत्र समा सकता है। पुरुषों में इसके पीछे शुक्राशय तथा स्त्रियों में गर्भाशय (यूटेरस) की स्थिति रहती है।

**(४) मूत्रमार्ग:–** जिस रास्ते से मूत्र निकलता है, उसे मूत्रमार्ग कहते हैं । यह मूत्राशय के एक दम निचले भाग से एक नली के रूप में आरंभ होता है। पुरुषों में यह लगभग ८–९ इंच लम्बा होता है तथा इसमें दो घुमाव होते हैं। इसके प्रारम्भिक भाग में प्रोस्टेट ग्रन्थि रहती है। यह मार्ग प्रोस्टेट ग्रन्थि के आगे से शिश्न (लिंग) के बहिर्भाग पर जो छिद्र होता है, वहाँ समाप्त होता है। लिंग के इस छिद्र को 'मूत्र बहिर्द्वार' कहते हैं। अस्तु मूत्रवहिर्द्वार अर्थात् शिश्न के एक ही छिद्र

से मूत्र तथा शुक्र (वीर्य) दोनों के अलग–अलग निकलने की क्रियाएँ सम्पन्न होती हैं। स्त्रियों का मूत्र मार्ग लगभग डेढ़ इंच लम्बा होता है। उसकी नली योनि की दीवार से मिली रहती है। उसका छिद्र योनि–छिद्र से लगभग आधा इंच ऊपर की ओर रहता है। स्त्रियों के मूत्रमार्ग से केवल मूत्र ही निकलता है।

**अन्य कार्यः–** वृक्क हृदय का भी एक महत्त्वपूर्ण सहायक अङ्ग है। यदि किसी कारणवश वृक्क के कार्य में रुकावट पड़ जाती है, तो रक्त के भीतर अम्ल तथा क्षार के अनुपात में अन्तर आ जाता है एवं रक्त का दबाव अधिक बढ़ जाता है।

वृक्क प्लाज्मा पर भी नियन्त्रण करता है तथा ग्लूकोज एवं यूरिया नामक तत्वों के घनत्व को भी नियन्त्रित रखता है।

## ॥ नवमोऽध्यायः ॥

## प्रजनन संस्थान

**पुरुष प्रजननांगः–** जिस प्रकार स्त्रियों में प्रजननांगों में बीजाधार होते हैं, वैसे ही पुरुषों में शुक्राधार या वृषण होते हैं। जैसे बीजाधार के ऊपर और उससे सम्बद्ध बीजवाहिनियाँ होती है। वैसे ही वृषण से सम्बद्ध शुक्रवाहिनी होती है। वृषण संख्या में दो होते हैं जो अण्डकोष के अन्दर स्थित रहते हैं।

अण्डकोष एक प्रकार की चमड़े की थैली होती है, जिसे चर्मकोष भी कहते हैं। उसके अन्दर एक दृढ़ प्रावरणी से बना प्रावरण कोष होता है। प्रावरण कोष को मध्यस्थ कला प्राचीर दो भागों में विभक्त करती है। प्रत्येक भाग में एक–एक वृषण होता है।

प्रत्येक वृषण के ऊपर एक पतली झिल्ली चढ़ी होती है, जो एक थैली बनाती है। इस झिल्ली के दो स्तर होते हैं। एक स्तर वृषण पर चढ़ा होता है और दूसरा स्तर वृषण को धारण करने वाले कोष को तैयार करता है। इस थैली को ट्यूनिका बेजानिलिस या अण्डाघर पुटक कहते हैं, ये दोनों स्तर यहाँ उसी प्रकार के होते हैं जैसे पेरिटोनियम के अन्य कोष्ठाङ्गों पर देखे जाते हैं। इन दोनों स्तरों के बीच कभी–कभी पानी भरने से हाइड्रोसील नामक रोग होता हुआ देखा जाता है। इसी पुटक के बाहरी स्तर में फलकोष कर्षणी पेशी के सूत्र भी होते हैं, जिसके कारण पेशीमय प्रावरणी का निर्माण होता है।

प्रत्येक अण्डघर पुटक के अन्दर एक–एक वृषण ग्रन्थि रखी रहती है। हर वृषण ग्रन्थि में संलग्न अधिवृषणिका होती है। यह एक प्रकार की बहुत लम्बी सूक्ष्म शुक्रप्रणाली है, जो एक विशिष्ट अवयव के रूप में रखी जाती है। इसी अधिवृषणिका के अन्दर सूक्ष्मातिसूक्ष्म शुक्रवाही स्रोत खुलते हैं। अधिवृषणिका दुहरी होकर वृषण पर छाई रहती है। यदि इसे खींच कर देखा जाये तो यह तेरह हाथ लम्बी नलिका बन जाती है। यह अवयव ऊपर मोटा और नीचे पतला होता जाता है। नीचे यही शुक्रवाहिनी का रूप ले लेती है जो वृषण बन्धनी के सहारे वंक्षण सुरंग में प्रवेश करती है।

शुक्रवाहिनी अपने अन्तिम सिरे पर शुक्रप्रसेक या इजैक्युलेटरी डक्ट में खुलती है, इसी शुक्र प्रसेक में शुक्र प्रदिका या सेमिनल (वेजाइकिल) भी खुलती है।

**शुक्रमार्गः**–शुक्र वृषण से अधिवृषणिका में अधिवृषणिका से शुक्र वाहिनी में, शुक्रवाहिनी से शुक्र प्रविका और इन दोनों से शुक्र प्रसेक और शुक्र प्रसेक से मूत्र प्रसेक तक का शुक्र मार्ग है। इस मार्ग में कहीं अवरोध होने पर शुक्र का शिश्न में होकर बहना रुक जाता है।

## स्त्री प्रजननांग

इसके चार भाग हैं–

(१)भग,(२)गर्भाशय,(३)दो बीजाधार, (४)दो बीज वाहिनियाँ।

**(१) भगः– इसके दो भाग हैं–**

(१) बहिर्भग, (२) अन्तर्भग।

**अन्तर्भगः**– भग द्वार से गर्भाशय मुख तक टेढ़ा फैला हुआ भाग बस्ति और गुदा के बीच में है। यह सम्मुख प्राचीर के अनुक्रम से चार अंगुल लम्बा, पश्चिम प्राचीर के अनुक्रम से पाँच–छः अंगुल चौड़ा है; क्योंकि इसका प्राचीर नियत स्वभाव संकुचित रहता है। योनिमार्ग प्रायः बन्द रहने पर भी प्रयोजन होने पर फैल सकता है। इसका उर्ध्वप्रान्त जरायु ग्रीवा को वेष्टन करके रहता है। यह मार्ग पश्चिम भाग में तिरछा और कुछ अधिक दूर तक फैला हुआ है। इसी का नाम अपत्यपथ है।

**गर्भाशयः**– गर्भाशय अधोमुख छोटी तुम्बी के समान स्थूल पेशी से बनी हुई थैली है, जो योनि के उर्ध्वमुख में बंधी है। अगर्भा स्त्री में इसका आकार अपनी मुट्ठी के समान होता है और गृहीत गर्भा में गर्भ के अनुसार आयतन बढ़ता जाता है। वर्णन की सुगमता के लिए गर्भाशय के तीन भाग माने गये हैं–

मुख, ग्रीवा और शरीर।

**गर्भाशय मुखः–** नीचे की ओर मुख करके योनि के शिखर में अवलम्बित है। इसमें दर्शनीय छिद्र बाह्यगर्भछिद्र नाम का है। यह गर्भाशय का द्वार रूप है और सदा संकुचित रहता है। यह मासिक आवर्तकाल में सोलह दिन तक गर्भ धारण करने के लिए थोड़ा खुला हुआ रहता है और प्रसव काल में बहुत खुल जाता है। रजः कृच्छ्र, रोग में इस छिद्र के भली प्रकार न खुलने से स्राव रुक – रुक कर होता है। जिससे रजःशूल आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

**गर्भाशय ग्रीवाः–** गर्भाशय के मुख और शरीर के मध्यस्थ दो अंगुल लम्बा संकुचित भाग है। इसकी प्राचीरों की मोटाई एक अंगुल की चौथाई मात्रा है। इसके अन्दर का मार्ग छोटे पटोल के आकार का होता है जो रजः काल के अलावा अन्य समय में प्रायः श्लेष्मार्गलिका से बन्द रहता है। इसका नाम ग्रीवा सरणि है।

**गर्भाशय शरीरः–** छोटी तुम्बीफल के स्थूलभाग के समान है। इसके अन्य त्रिकोणाकार अवकाश दिखाई देता है। इस त्रिकोण के ऊपर के दोनों पार्श्वस्थ कोण बीज स्रोतों से मिले हैं और नीचे के कोण छिद्र रूप होकर ग्रीवा सरणि से मिला है। इस छिद्र का नाम आभ्यन्तर गर्भच्छिद्र है। गर्भाशय की प्राचीरिकायें यहाँ स्थूलतम हैं– ये मिलकर प्रायः अर्धांगुलि मोटी हैं। गर्भाशय शिखर का नाम गर्भ तुम्बी है।

**बीजाधार या बीजकोशः–** छोटी चिड़िया के अण्डे के समान गर्भाशय के दोनों पार्श्वों में स्थित दो ग्रन्थियाँ हैं। ये पक्षबन्धनियों के दोनों स्तरों के बीच में और गर्भाशय के पार्श्वकोंणों के समीप तिरछी रहती है। प्रत्येक बीजाधार के दो प्रान्त हैं– अन्तर्मुख, और बहिर्मुख। इनमें अन्तर्मुख प्रान्त गर्भाशय की ओर मुख किये हुए हैं और दो तीन अंगुल लंबी रज्जुवत छोटी बन्धनी द्वारा गर्भाशय से बँधा है। इस बन्धनी का नाम बीजाधार बन्धनिका है। बहिर्मुख प्रान्त से एक पतली कुल्या(छोटी नाला) बीज रूप आर्तव के बहने के लिए चली है। इसका नाम बीज कुल्या है। यह बीजवाहिनी के पुष्पित प्रान्त से मिलती है।

**दो बीजवाहिनियाँः–** गर्भाशय के पार्श्व कोणों से बाहु की भाँति दोनों ओर फैली है। ये स्वतन्त्र देशी तन्तुओं से बनी दो नलिका हैं। इनके बहिःप्रान्त खिले कूष्माण्ड के फूल के समान हैं, इसलिए ये पुष्पित प्रान्त कहलातें हैं। बीजाधार गात्र के फटने से निकले हुए स्त्री–बीज इनके द्वारा महीने–महीने पकड़ लिए और गर्भाशय में पहुँचाये जाते हैं। बीज वाहिनियों के आभ्यान्तर दोनों स्रोत कुक्ष की पोरी के प्रवेश योग्य हैं। ये गर्भाशय के पार्श्वकोण में खुलता है।

## मूत्र कृच्छ्र

**क्षेत्रीय नामः–** बं०– मूत्रकृच्छ्र, हि०–रूक–रूक करके पेशाब आना, मरा०–कालामारून, अं०– डिसयूरिया। मूत्रकृच्छ्र विभिन्न कारणों से उत्पन्न एक ऐसी अवस्था है, जिसमें दर्द सहित मूत्रत्याग होता है।

**मूत्रकृच्छ के हेतुः–** अधिक व्यायाम, तीक्ष्ण औषध, रूक्ष पदार्थ, अत्यधिक मद्यपान के अभ्यास एवं तेज चलने वाले घोड़े आदि पर नित्य सवारी करना(इस समय उबड़खाबड़ रास्ते पर मोटर–गाड़ी से नित्य सफर) अध्यशन तथा अजीर्ण से मूंत्रकृच्छ रोग की उत्पत्ति होती है।

**लक्षणः–** इस विकृति में रोगी बार–बार अल्पमात्रा में वेदना तथा दाह के साथ कष्ट पूर्वक मूत्र त्याग करता है। मूत्र में रक्त भी आ सकता है।

**चिकित्साः–**(१)आमलकी फल चूर्ण तथा गुड़ समभाग को ६ ग्राम की मात्रा में दिन में तीन बार प्रयोग करें। (२) उष्ण दुग्ध १५०मि०ली०, शर्करा (५–१०ग्रा) सहित दिन में तीन बार प्रयोग करें। (३) गोक्षरू फल क्वाथ १४ से २८ मि०ली० का दिन में तीन बार प्रयोग करें। (४ ) चन्द्रप्रभावटी एक से दो वटी दुग्ध के साथ दिन में तीन बार प्रयोग करें। (५) शुद्ध शिलाजतु– ५०० मि०ली० से एक ग्राम मधु के साथ दिन में दो बार प्रयोग करें। (६) शतावरीघृत– १२ से २४ ग्राम, शर्करा (५–१०ग्रा०) के साथ दिन में दो बार प्रयोग करें।

**पथ्यः–** पुराणशालि, यव, तक्र दधि, घृत, शीतलजल, आमलकी, खर्जुर फल, घृतकुमारी पत्र का गूदा मूत्रकृच्छ्र के रोगियों के लिए हितकर आहार द्रव्य है।

**अपथ्यः–** रूक्ष तथा अम्ल द्रव्य, लवणरस, ताम्बूलपत्र, आर्द्रक, हिंगु, सर्षप पत्र तथा मद्य– मूत्रकृच्छ्र के रोगियों के लिए अहितकर द्रव्य है। इस रोग में सवारी करना तथा मूत्रवेग संधारण का परित्याग करना चाहिए।

## अश्मरी (वृक्कशूल)

**लक्षणः–** मूत्राशय, गवीनी, मूत्रमार्ग व वृक्क में पथरी होने के कारण दर्द व रक्त के साथ थोड़ा–थोड़ा मूत्र आये, तो वह वृक्क शूल से जाना जाता है।

**चिकित्साः–**(१) १४ से २८ मि०ली० एरण्ड मूल का क्वाथ, १ ग्राम यवक्षार के साथ दिन में दो बार सेवन किया जाता है। (२) गोक्षरू फल क्वाथ १४ से २८ मि०ली० का दिन में तीन बार प्रयोग करें। (३) शतावरीघृत– १२ से २४ ग्रा०, शर्करा (५–१०ग्राम) के साथ दिन में दो बार प्रयोग करें।

## प्रमेह

**क्षेत्रीय नामः–** बं०–प्रमेह, हि०–प्रमेह, मरा०–बहुमूत्रता, अं०– युरिनरी, डिसोर्डर्स लीडिंग टू डायवेटस मेलाइटस। प्रमेह, मूत्र विसंगति का एक समूह है। जो कि मटमैला अत्यधिक मात्रा में होने से परिलक्षित होता है। रोगोत्पादक कारण मूत्र का रंग मूत्र का गाढ़ापन और मात्रा के अनुसार २० प्रकार के प्रमेह बताए गये हैं। प्रमेह के सामान्य प्रकारों के लक्षण और उसकी चिकित्सा निम्नवत है।

**लक्षणः–** (१)**उदकमेह–** उदकमेह में रोगी स्वच्छ, मात्रा में अधिक, स्पर्श में ठण्डा, गन्ध रहित तथा कुछ गंदला मूत्र त्याग करता है। (२)**शुक्रमेह–** रोगी मूत्र त्याग के समय शुक्र का त्याग करता है या शुक्र से मिश्रित मूत्र का त्याग करता है। (३) **इक्षुमेह–** इक्षुमेह वह रोग है, जिसमें रोगी ईख के रस के समान मधुर मूत्र का त्याग करता है। (४) **हस्तिमेह–** हस्तिमेह का रोगी अत्यधिक मात्रा में निरंतर लसिका मिश्रित और ग्रंथित मूत्र का त्याग करता है। (५) **मधुमेह–** सभी प्रकार के प्रमेह की उपेक्षा करने पर मधुमेह नामक दशा में बदल जाता है, यह स्वतंत्र रूप से भी हो सकता है। इस रोग में रोगी शहद के समान मधुर मूत्र का त्याग करता है और उसमें रक्तगत शर्करा की मात्रा सामान्य मात्रा से अधिक होती है।

**चिकित्साः–** बिल्व पत्र स्वरस १४ से २८ मि०ली०, ५ से १० ग्राम शहद के साथ दिन में तीन बार लेना चाहिए। (२) गुडूची काण्ड स्वरस १४ से २८ मि०ली० पाँच से दस ग्राम शहद के साथ दिन में तीन बार लेना चाहिए। (३) मधुयष्टी चूर्ण ३–६ ग्राम, ५ से १० ग्राम शहद के साथ दिन में तीन बार लेना चाहिए। (४) सारिवा के तने का चूर्ण– एक भाग, तेजपत्ता एक भाग, यष्टिमधु मूल एक भाग, एक ग्राम की मात्रा में ५० से १०० मि०ली० जल के साथ दिन में दो बार लेनी चाहिए।

**मधुमेह के लिए विशिष्टः–** (१) जयन्ती क्वाथ १४ से २८ मि०ली० दिन में दो बार लेना चाहिए।

## अष्ठीला (पौरुष ग्रन्थि वृद्धि)

यह रोग पुरुषों में ४०–५० वर्ष की उम्र के बाद होता है, सभी में नहीं।

**कारणः–** मूत्राशय की थैली के नीचे मूल नलिका के चारों ओर पुरुष ग्रन्थि (प्रोस्टेट) होती है। यह ज्यों–ज्यों उम्र बढ़ती है त्यों–त्यों हार्मोन्स के असन्तुलन के कारण बढ़ने लगती है तथा मूत्र नलिका को दबाव देकर शनैः–शनैः बन्द कर देती है।

**लक्षणः–** प्रारम्भ में पेशाब बार–बार आने लगता है तथा पेशाब करते समय जलन भी महसूस होती है। ज्यों–ज्यों बीमारी बढ़ती जाती है, पेशाब करने में परेशानी होने लगती है। पेशाब के लिए बैठने पर पेशाब आना प्रारंभ होने में एक मिनट का समय लग जाता है। पेशाब की धार पतली होने लगती है तथा जोर लगाने पर धारा और कम हो जाती है। रोग की चरम अवस्था में बूँद–बूँद करके मूत्र आने लगता है तथा रुक जाता है।

**चिकित्साः–** (१) गोक्षरू चूर्ण एक चम्मच, वरुण चूर्ण एक चम्मच– प्रातः, सायं जल से। (२) अश्वगंधा चूर्ण आधा चम्मच, मधुयष्टी चूर्ण आधा चम्मच, आमलकी चूर्ण आधा चम्मच– सुबह, सायं दुग्ध के साथ। (३) पाँच बादाम रात्रि में भीगो देवें, सुबह पाँच नग काली मिर्च के साथ पीसकर पीने से आराम मिलता है। (४) छोटी हर्रे का चूर्ण १६ भाग, तुत्थ(तूतिया) एक भाग दोनों को नीबू रस के साथ भावनायें देकर चूर्ण को सुरक्षित रख लेवें। दो से चार रत्ती तक शहद के साथ दिन में तीन बार प्रयोग करने से एक से दो मास ३–४ अंगुल वृद्ध ग्रन्थि भी प्राकृतावस्था में आ जाती है। परीक्षित लाभदायी योग है।

## मूत्रमार्ग संक्रमण

मूत्र वह संस्थान में संक्रमण(इन्फेक्सन) होने पर मूत्रमार्ग संक्रमण होता है। जिसे आधुनिक भाषा में (यू०टी०आई०) कहते हैं। संक्रमण होने पर पेशाब में जलन के साथ–साथ हाथ–पैरों की टूटन, सिर दर्द आदि होते हैं।

**चिकित्साः–** अमृता चूर्ण आधा चम्मच, आमलकी चूर्ण आधा चम्मच, गोक्षरू आधा चम्मच– प्रातः, सायं जल से।



# ॥ दशमोऽध्यायः ॥
## रक्तवह संस्थान के रोग

**हृदय की सामान्य रचना एवं कार्यः—** हृदय शरीर के बायीं ओर स्थित है, इसके दोनों ओर दो फुफ्फुस हैं। आगे की ओर वक्षास्थि और तीसरी, चौथी तथा पाँचवीं पर्शुकाएँ रहती हैं। हृदय के पीछे, पीठ के पाँचवें, छठे, सातवें और आठवें कशेरूकाओं के गात्र रहतें हैं। हृदय और इन कशेरूकाओं के बीच में वृहद्धमनी और अन्नप्रणाली पड़े रहते हैं। हृदय लगभग पाँच इंच लंबा और साढ़े तीन इंच चौड़ा (जहाँ सबसे अधिक चौड़ा है। जहाँ जिसकी मोटाई सबसे अधिक है, वहाँ यह) ढाई इंच मोटा है।

हृदय माँस का बना हुआ एक थैला है। जिसके भीतर रक्त रहता है। इसके ऊपर एक झिल्ली रहती है, जिसे हृदयावरण कहते हैं। यदि हृदय को भीतर से चीरकर देखा जाय तो इसमें चार कोष्ठ (कोठरियाँ)दिखाई देती हैं। दो बायीं तरफ व दो दायीं तरफ। ऊपर की कोठरियों में रक्त आता है, उनको आलिंद कहते हैं। नीचे के कोष्ठों से रक्त सारे शरीर में वितरित होता है। उसे निलय कहते हैं। ऊपर के कोष्ठ नीचे के कोष्ठ में रक्त भेजते हैं और नीचे के कोष्ठों से सारे शरीर में रक्त जाता है। आलिंद और निलय के बीच में जो दीवार हैं उनमें ऐसे द्वार हैं, जिनके द्वारा रक्त प्रथम कोष्ठ से दूसरे कोष्ठ में जा सकता है। निलय और उन बड़ी नलिकाओं के बीच में भी जिनमें निलय से रक्त जाता है, ऐसे ही द्वार हैं। इन द्वारों पर इस भाँति के कपाट लगे हुए हैं कि वे केवल एक ही ओर को खुलते हैं। रक्त उनके द्वारा आलिंद से निलय कोष्ठ में और निलय से रक्त नलिकाओं में जाता है। कपाट एक ही ओर खुलने से रक्त वापस जिस तरफ से आता है, उस तरफ पुनः नहीं जा सकता है।

**कपाट (वाल्व) :—** ये कपाट कई भागों के बने हुए हैं। जो कपाट दाहिने आलिंद और निलय कोष्ठ के बीच में हैं, वह तीन कपर्दों से मिलकर बना है। यह कर्पद अँग्रेजी कोटों के थैले के आकार के जेबों के समान होते हैं। बाईं ओर का कपाट दो कपर्दों का बना हुआ है। जो कपाट निलय और धमनियों के बीच में है वह अर्धचन्द्राकार है।

इस प्रकार हृदय चार भागों में विभक्त हैं–(१) दाहिना आलिंद (२) दाहिना निलय (३) बायाँ आलिंद (४) बायाँ निलय। इन सब कोष्ठों में कोई न कोई रक्त नलिका आती है व उनसे जाती है।

दाहिने आलिंद में जो नलिका आती है वह सारे शरीर के अशुद्ध रक्त को लाती है, वह महासिरा कहलाती है। दाहिने आलिंद से निलय में आया हुआ (त्रिकापर्दीये कपाट द्वारा) अशुद्ध रक्त एक दूसरी नलिका द्वारा हृदय के बाहर फुफ्फुस में जाता है, जहाँ रक्त की शुद्धि होती है, उस नलिका को फुफ्फुसीय धमनी कहतें हैं।

शरीर में अन्य जितनी धमनियाँ हैं, सभी धमनियों में शुद्ध रक्त रहता है। केवल फुफ्फुसीय धमनी में अशुद्ध रक्त रहता है।

बायें आलिंद में दोनों फुफ्फुस से चार शिराएँ शुद्ध रक्त को लाती हैं। इन्हें फुफ्फुसीय शिरा कहते हैं।

शरीर में अन्य जितनी भी शिरायें हैं, सभी शिराओं में अशुद्ध रक्त रहता है। केवल फुफ्फुसीय शिरा में शुद्ध रक्त रहता है।

बायें आलिंद से शुद्ध रक्त द्विकपर्दीय कपाट के द्वारा बायें निलय में लाया जाता है और बायें निलय से शुद्ध रक्त वृहद्धमनी द्वारा सारे शरीर में भेजा जाता है।

## पाण्डु रोग

**क्षेत्रीय नामः–** हि०,बं०– पाण्डु, मरा०– पाण्डु रोग, अं०– एनिमिया।

**पाण्डुः–** वह रोग है जिसमें रक्त में रक्त कणिकाओं की गुणात्मक और मात्रात्मक कमी होने से रोगी का वर्ण पीताभ हो जाता है। इसके पूर्वरूप में हृदय में अत्यधिक स्पंदन, मुख का सूखा रहना, स्वेद का कम आना, शरीर में थकावट होना आदि होते हैं।

**लक्षणः–** भोजन के पचाने की शक्ति का ह्रास, भोजन से द्वेष, अत्यधिक लालास्राव, थकावट, कमजोरी, शरीर की कान्ति का ह्रास, चक्कर आना, चिड़चिड़ापन, ज्वर, ठंडे पदार्थों से अरुचि, हाथ पैरों में दर्द एवं ऐंठन, शरीर में भारीपन, व्यायाम के समय श्वास कष्ट जैसे– चढ़ाई चढ़ते समय श्वास फूलता है, ये सब पाण्डु रोग के सामान्य लक्षण हैं।

**मृद् जन्य पाण्डु (कृमि जन्य रक्ताल्पता)ः–** इस प्रकार के पाण्डु रोग में रोगी के गालों, नेत्रों के पलकों और नेत्र कूटों तथा टाँगों आदि में शोथ हो जाता है। पुरीष में कृमि निकलते हैं तथा साम और सरक्त अतिसार उत्पन्न होता है।

**चिकित्साः–** कृमि चिकित्सा, पाण्डु चिकित्सा– (१) **विडंगादि चूर्ण**– एक ग्राम, पर्याप्त मधु के साथ दिन में दो बार लेना चाहिए। (२) **महानिम्ब**– के ताजा पत्ते से निष्कासित स्वरस ७–१४ मि०ली० की मात्रा में सममात्रा मधु के साथ

दिन में दो बार लेना चाहिए। (३)**गन्ने का रस**– १०० से २५० मि०ली० दिन में तीन बार लेना चाहिए। (४) **मण्डूर भस्म**–एक से तीन ग्राम शहद के साथ लेह बनाकर दिन में तीन बार लेना चाहिए। (५) **कुमार्यासव** –१४–२८ मि०ली० समभाग जल से दिन में तीन बार लेना चाहिए। (६) **पूनर्नवादि मंडूर**– एक ग्रा०, १०० से २५० मि०ली० दूध के साथ दिन में तीन बार लेना चाहिए। (७)**रोहीतकारिष्ट** –१४ से २८ मि०ली० समभाग जल से दिन में तीन बार भोजन के बाद लेना चाहिए। (८) **त्रिफला**, त्रिकटु, नागकेशर, वायविडंग, चित्रक समभाग, लौह भस्म ९ भाग– इन सबका चूर्ण एक से तीन माशे शहद के साथ चाटने से पाण्डु, कामला, अर्श कुष्ठ और हृद्रोग दूर होते हैं। (९) **हर्र** का चूर्ण ६ माशा, समान भाग गुड़ मिलाकर प्रातः दोपहर, सायं को खाने से पाण्डु रोग दूर होता है। (१०) **बड़ी हरड़** का चूर्ण गुड़ के साथ खाने से पाण्डु की सूजन मिटती है।

**पथ्यः–** गेहूँ, मूँग, मसूर, पुनर्नवा, गाजर, मूली पत्र सहित, केला, जामुन, द्राक्षा, आमलकी, अमरूद, आम और पपीता का फल, रसोन, हरिद्राप्रकन्द तक्र और दही ये सब पाण्डु रोगियों के लिए हितकर है।

**अपथ्यः–** लवण और अम्ल रस, गुरुद्रव्य मटर, उड़द बीज, सरसों का साग और मद्य ये सब पाण्डु रोगी के लिए हानिकारक हैं। अत्यधिक पानी पीना, धूप का सेवन करना, कठिन एवं दुष्कर कार्य, व्यायाम, क्रोध, अतिमार्ग गमन, अधारणीय वेगों का धारण और रक्तावसेचन का परित्याग करना चाहिए।

## कामला

**क्षेत्रीय नामः–** बं०–कामला, गु०–कामडी, हि०– पीलिया, मरा०–काबिला, इं०–जौण्डिस।

कामला रोग में रोगी की आँखें पीले रंग की हो जाती है। साथ ही साथ त्वचा नाखून एवं मूत्रादि भी पीत वर्ण के हो जाते हैं। इसके दो भेद होते हैं यथा– (१)कोष्ठाश्रित कामला (२)शाखाश्रित कामला।

**लक्षणः–** नख, त्वक्, नेत्रादि की पीतता के अतिरिक्त निम्न लक्षण विशेष रूप से दोनों ही प्रकार के कामला रोगों में देखने को मिलते है।

(१) **कोष्ठाश्रित कामलाः–** क्षुधामांद्य, श्रम, दौर्बल्य, गलबद्धता, अरुचि या वमथु, अजीर्ण, रक्तपित्त मूत्रता, ये लक्षण कोष्ठश्रित कामला में मुख्य रूप से होते हैं।

(२)**शाखाश्रित कामलाः–** उदरशूल, क्षूधामांद्य, दौर्बल्य, दक्षिणोर्द्धव उत्तर प्रदेश में बेचैनी, अत्यधिक भारहानि, उदराध्मान, गुड़गुड़ायन, पीतमूत्रता, विशेष रूप से पाए जाते हैं।

**चिकित्साः–** शाखाश्रित कामला में शल्य चिकित्सा की आवश्यकता हो सकती है। अतः शल्य विशेषज्ञ से परामर्श लेना चाहिए। कोष्ठाश्रित कामला की चिकित्सा निम्न लिखित है–(१) गुडूची के ताजा कन्द से प्राप्त स्वरस १४ मि०ली० की मात्रा में १४ ग्राम मधु के साथ दिन में दो बार लेना चाहिए। (२) दारूहरिद्रा के काण्ड के सूक्ष्म चूर्ण को एक से तीन ग्राम की मात्रा में मधु के साथ दिन में दो बार लेना चाहिए। (३) त्रिफला चूर्ण– एक से तीन ग्राम सममात्रा में मधु के साथ दिन में दो बार लेना चाहिए। (४) त्रिकटु चूर्ण एक से तीन ग्राम सम मा– में मधु के साथ दिन में दो बार लेना चाहिए। (५) आरोग्यवर्द्धिनी वटी– ग्राम सम मात्रा मधु के साथ दिन में दो बार लेनी चाहिए। (६) मंडूर भस्म– एक से तीन ग्राम मधु के साथ दिन में दो बार लेनी चाहिए।

**पथ्यः–** शालिचावल, गेहूँ, जौ, मसूर, पटोल एवं कदली फल, पुनर्नवापत्र मूलक एवं इक्षुरस कामला रोग से पीड़ित रोगियों के लिए लाभप्रद होते हैं। प्रारम्भिक अवस्था में रोगी को शय्यासीन रखना चाहिए।

**अपथ्यः–** गुरुद्रव्य, घी, तले हुए एवं दुष्पाच्य भोज्य पदार्थ कामला के रोगियों के लिए हानिकारक होते हैं। श्रम, व्यायाम, अतिभ्रमण एवं क्रोध से यथा सम्भव बचना चाहिए।

## हृद्रोग

**क्षेत्रीय नामः–** बं०–हृद्रोग, गु०– दिलनारोग, हि०– हृद्रोग, मराठी– हृदयरोग, अं०– डीजिज आफ हार्ट।

हृद्रोग रोग को पाँच वर्गों में बाँटा है–

(१) वातिक (२) पैत्तिक (३) कफज (४) सन्निपातिक व (५) कृमिज। प्रत्येक के लक्षण व चिकित्सा निम्न हैं–

## (१) वातिक हृद्रोग

**लक्षणः–** हृदय प्रदेश में तीव्र वेदना, जिसमें आरे की तरह से काटने, पीसने, खीचने, जैसी अनुभूति होती है। अन्य लक्षणों में में धड़कन, तीव्रनाड़ी, हृदय का रुकना एवं मूर्च्छा आदि हैं।

**चिकित्साः–** (१) हरीतकी फल मज्जा व वचा प्रकन्द समभाग मिलाकर एक ग्राम चूर्ण ४–६ ग्राम शहद के साथ दिन में दो बार सेवन करें। (२) १४–२८ मि०ली० शुण्ठी क्वाथ, ४ से ६ ग्रा. शहद के साथ दिन में दो बार सेवन करना चाहिए। (३) ६–१२ ग्राम तिल तैल एक ग्राम क्वाथ का सेवन दिन में दो बार करना चाहिए।

## (२) पैत्तिक हृद्रोग

**लक्षणः–** हृदय में भारीपन व थकान, प्यास, जलन, मुँह में सूखापन व मूर्च्छा आना, पैत्तिक हृद्रोग के मुख्य लक्षण हैं।

**चिकित्साः–** (१) ३–६ ग्राम अर्जुन छाल का चूर्ण व ३–६ ग्राम गुड़, ५० मि०ली० जल के साथ दिन में दो बार सेवन करना चाहिए। (२) अर्जुन छाल, लघुपंच मूल, बलामूल, यष्टिमधु समभाग लेकर इनके द्वारा सिद्ध दूध की १००–२५० मि०ली० मात्रा, ५–१० ग्राम शर्करा के साथ दिन में दो बार सेवन करना चाहिए।

## (३) कफज हृद्रोग

**लक्षणः–** हृदय की गति में जैसे रुकावट आ गयी हो, शरीर में भारीपन, कफ का अधिक निष्कासन, भूख न लगना, मुँह में मधुर स्वाद, कफज हृद्रोग के मुख्य लक्षण हैं।

**चिकित्साः–** (१) एलाबीज एवं पिप्पली मूल समभाग में लेकर ३–६ ग्राम की मात्रा में पाँच से छः ग्राम घी या चार से छः ग्राम शहद के साथ दिन में दो बार सेवन करना चाहिए। (२) हर्र, वच, रास्ना, पीपल, सोंठ, कचूर, पीपरामूल सब समभाग का चूर्ण तीन माशे की मात्रा में मधु के साथ सबेरे, शाम खाने से कफज हृदयरोग नष्ट होता है। (३) हर्र की छाल, सोंठ, कचूर, कुटकी, पीपरामूल समभाग का जौकूट चूर्ण ढाई तोले, आधा सेर जल में पकाकर चतुर्थांश क्वाथ बनाकर एक तोला पीने से हृदय रोग दूर होता है।

## (४) सन्निपातिक हृद्रोग

वातिक, पैत्तिक, कफज हृदय रोग में वर्णित समस्त लक्षण सन्निपातिक हृद्रोग में पाये जाते हैं।

**चिकित्साः–** (१) एक ग्राम अर्जुन छाल का चूर्ण, १००–२५० मि०ली० गर्म दूध के साथ दिन में दो बार सेवन करना चाहिए। (२) एक से तीन ग्राम नागवला चूर्ण, १०० से २५० मि०ली० गर्म दूध के साथ दिन में दो बार सेवन करना चाहिए। (३) एक ग्राम पुष्कर मूल चूर्ण, चार से छः ग्राम शहद के साथ दिन में दो बार लेना चाहिए। (४) हिंग्वादि चूर्ण– २ से ४ ग्राम, १४ से २८ मि०ली० यव क्वाथ के साथ दिन में दो बार सेवन करना चाहिए। (५) श्रृंगभस्म– १२० से २५० मि०ली० ग्राम, ५ से १० ग्राम शहद के साथ दिन में दो बार लेना चाहिए।

## (५) कृमिज हृद्रोग

हृदय प्रदेश में तीव्र वेदना व खुजली होना कृमिज हृद्रोग के लक्षण हैं। अन्य लक्षणों में मिचली का आना, हृदय के कार्य में शिथिलता, शिरःशूल, भूख का न लगना व शोथ उत्पन्न होना आदि है।

**चिकित्साः**–(१) एरण्ड तेल में भुनी हुई हरीतकी फल मज्जा दो भाग, सेंधव–एक भाग, श्वेत जीरक एक भाग मिलाकर दो से छः ग्राम की मात्रा में, पाँच से दस ग्राम शर्करा के साथ दिन में दो बार सेवन करना चाहिए। (२) विडंग चूर्ण दो भाग, कुष्ठ मूल एक भाग, दो से चार ग्राम की मात्रा में गौ मूत्र के साथ दिन में दो बार सेवन किया जाता है। (३) पुनर्नवाष्टक क्वाथ– १४ से २८ मि०ली० दिन में दो बार सेवन करना चाहिए। यह शोथ को कम करने में अतिलाभदायक है। (४) आरोग्यवर्द्धिनी वटी– एक से दो वटी ५० मि०ली० जल के साथ दिन में दो बार सेवन की जाती है। यह शोथ कम करने में लाभप्रद है। (५) चन्द्रप्रभा वटी– एक से दो वटी १०० से २५० मि०ली० दुग्ध के साथ दिन में दो बार सेवन करें। यह शोथ में लाभकारी है। (६) वृहत्वात चिन्तामणि रस–६० से १२० मि०ली० ग्राम, ४ से ६ ग्राम शहद के साथ दिन में दो बार सेवन करें। (७) अर्जुनघृत– १२ से २४ ग्राम, १०० से २५० मि०ली० दूध के साथ दिन में दो बार सेवन करें। (८) अभयारिष्ट– १४–२८ मि०ली० समान मात्रा में जल मिलाकर भोजनोपरान्त दिन में दो बार लेना चाहिए। (९) दशमूलारिष्ट या अर्जुनारिष्ट १४ से २८ मि०ली० समान जल मिलाकर भोजनोपरान्त दिन में दो बार। (१०) एक ग्राम अर्जुन त्वक् चूर्ण व १२० से २५० मि०ग्रा० श्रृंगभस्म, ४ से ६ ग्राम शहद के साथ दिन में दो बार सेवन करें। यह हृद्द्रव(धड़कन) में लाभकारी है।

उपरोक्त योगों में से हृदय में पीड़ा की अवस्थानुसार या शोथानुसार किसी का चुनाव करना चाहिए। तीव्रावस्था में तुरन्त अस्पताल में प्रवेश दिलाना चाहिए।

**पथ्यः**– शालिचावल, मूंग व कुलत्थ बीज, पटोल पत्र, मूली, आम्र, द्राक्षा, अदरक, लहसुन, पलाण्डु(प्याज) कन्द, तक्र, गुड़, हृद्रोग रोगियों के लिए लाभकारी है।

**अपथ्यः**– कषाय रस, ऊष्ण व क्षार द्रव्य, शोक, संभोग, क्रोध, चिन्ता, जोर से बोलना, धूप का सेवन व अधारणीय वेगों को धारण नहीं करना चाहिए।

# रक्तचाप

**परिभाषाः–** हृदय द्वारा रक्त परिभ्रमण क्रिया में हृदय बार–बार सिकुड़ता है एवं फैलता है। हृदय एक मिनट में ७० से ८० बार धड़कता है, जिसे हृदय गति कहते हैं। इस धड़कन की क्रिया में हृदय बार–बार सिकुड़ता एवं फैलता है। हृदय के बायें निलय के सिकुड़ने से उत्पन्न चाप–दबाव के कारण धमनियों में रक्त बढ़ाता है, इस दाब को सिस्टोलिक अर्थात् ऊपरी रक्तचाप कहते हैं । बायें निलय के फैलने के समय रक्त का प्रवाह धमनियों की सिकुड़न पर निर्भर करता है। इसे डायस्टोलिक रक्त चाप कहते हैं। अर्थात् रक्त की गति कभी कम कभी अधिक होती है। इस गति को रक्त का दबाव रक्तचाप (ब्लडप्रेशर) कहते हैं।

**रक्तचाप भेदः–** रक्तचाप दो प्रकार के हैं–

(१) उच्चरक्तचाप (हाइपरटेन्सन)।

(२) निम्नरक्तचाप (हाइपोटेन्सन)।

**उच्चरक्तचाप के भेदः–** (१) सुदम उच्चरक्तचाप (बिनायनहाईपरटेंसन)। (२) दुर्दम उच्चरक्तचाप (मेलिग्नैन्ट हाईपरटेन्सन)।

**सुदम उच्च रक्तचापः–** धीरे–धीरे रक्त चाप की वृद्धि होती है, पर बहुत अधिक नहीं बढ़ता और प्रायः एक ऊँचाई पर जाकर स्थिर हो जाता है तथा उसी के बीच चलता रहता है। जैसे प्राकुंचन रक्तचाप १८० तक ही बढ़ा और संकोचक दाब ११० तक बढ़कर स्थिर हो जाता है तथा उसी के बीच चलता रहता है। सुदम उच्च रक्तचाप कभी भी दुर्दम उच्चरक्तचाप में बदल सकता है।

**दुर्दम उच्चरक्तचापः–** यह तेजी से बढ़ता है। अचानक ही २५० प्राकुंच दाब तथा १६० तक अनुशिथिलन दाब बढ़ जाता है। इसमें कभी भी हृदय धमनी, वृक्क तथा मस्तिष्क की धमनियों के फट जाने का डर रहता है। एक बार प्रारम्भ होने पर दो वर्ष के अन्दर रोगी का जीवन समाप्त हो जाता है। मृत्यु हृद्धमनी के रोग, वृक्क रोग अथवा प्रमस्तिष्क की धमनी की दुर्घटनाओं के कारण होती है। इसमें दृष्टिपरक विकृति अर्थात् आँख के अन्दर रक्त श्राव तथा दृष्टिविम्ब शोथ आदि भी होते हैं। इस प्रकार के रोगियों की चिकित्सा पूरी तत्परता से करनी चाहिए। एक बार रोग पर नियन्त्रण पा लेने पर रोगी का निरीक्षण करते रहना चाहिए। रोगी का जीवन चिकित्सक की योग्यता पर चुनौती है और जितने वर्ष जीता है, वह उस का प्रशस्ति पत्र है।

**निम्न रक्त चापः–** रक्त का दबाव सामान्य से कम रहना अल्प रक्त चाप (हाईपोंटेन्सन) कहा जाता है। हृदय के संकोच के कारण रक्त सम्भवतः धमनी

प्राचीरों पर दबाव डालता है। हृदय द्वारा प्रक्षेपित रक्त का परीक्षण अल्प होने पर धमनीगत दाब भी अल्प रहता है। आयुर्वेद के रक्तक्षय में निम्नरक्तचाप का समावेश किया जा सकता है। आधुनिक वैज्ञानिक शरीर में सोडियम की कमी को भी इसका कारण मानते हैं।

**कारणः—** हृद्पेशी का दुर्बल होना(विकनेस ऑफ दी हर्ट मसल) हृदय के रोग और अनेक अन्य रोगों में जीवाणु के विष प्रभाव से हृद्पेशी दुर्बल हो जाती है, जिससे रक्त परिसंचरण में पर्याप्त रक्त नहीं पहुँचता। संकृत्य हृत्पात (कनजेस्टीव कार्डियक फेल्योर) के रोगियों का रक्त चाप घट जाता है।

**रक्त की कुल मात्रा में कमीः—** यदि रक्तवाहिनीयों की समाई (कैपसिटी) से रक्त की मात्रा कम हो जाए तो भी रक्त चाप घट जाता है। इससे रक्त हृदय को लौट नहीं पाता और वहाँ से परिसंचरण (सरकुलेसन) में नहीं जा पाता। इस अवस्था में रक्त चाप का कारण हृदय की दौर्बल्यता नहीं होती। यदि रक्त की मात्रा बढ़ा दी जाए तो रक्त चाप तुरंत ठीक हो जाता है।

**आनुवांशिकः—** कभी—कभी अनुवांशिक होता है एवं पूरे परिवार में मिल सकता है, पर उस अवस्था में अन्य कोई विशेष लक्षण नहीं मिलते तथा न ही हानि की सम्भावना रहती है। अनेक कारणों की उपस्थिति—प्रत्यक्षतः निम्न रक्तचाप के अनेक रोग व कारण, हेतु रहते हैं। जैसे वमन, अतिसार, अधिक ताप के कारण निर्जलीभव (डिहाईड्रेसन) हो जाने से रक्तप्रदर, यकृतपात, वृक्कनियात, अग्निकज्वर, अग्निदाह, तीव्र रक्तविषमयता, अश्रुघात, राजक्ष्मा, हृत्पेशीघात, पोषणाभाव, तन—मन का श्रमाधिक्य, रक्ताल्पता, अत्यधिक थकान व किसी भी प्रकार की कमजोरी, में रक्त चाप न्यून हो जाता है। अतः निम्न रक्त चाप प्रमुखतः किसी भी प्रकार की कमजोरी का प्रमुख लक्षण है।

**परिचयः—** रक्त वाही स्रोतस की भित्ति पर व्यानवायु से प्रेरित रक्त द्वारा जो भार पड़ता है, उसे रक्त चाप या रक्त दाब कहा जाता है। यह भार सामान्य अवस्था से अधिक होने पर उच्च तथा कम होने पर निम्न रक्त चाप कहलाता है। दोनों ही अवस्थाओं में व्यानवायु का प्रभाव होता है। आयुर्वेदीय प्राचीन साहित्य में यद्यपि इस व्याधि का सुस्पष्ट विवेचन नहीं मिलता। किन्तु आयुर्वेद के सिद्धान्तों का सम्यक् अनुशीलन करके रोग के हेतु, सम्प्राप्ति, दोष, सम्मूर्छना, अधिष्ठान स्त्रोतस् वैगुण्य की अवस्था आदि पर विचार करके रोग एवं रोगी का सम्यक् परीक्षण करते हुये चिकित्सा की जा सकती है।

धमनियों की दीवारों पर पड़ने वाले रक्तभार का मापन स्फिग्मोमैनोमीटर से किया जाता है। जो प्रायः सामान्य अवस्था में १२०/८० मि०मी० पारा होता है। हृदय की गति विस्फार आयति तथा नाड़ी के विधमन गति आयति आकार विस्तृति तथा घनता, मृदुता काठिन्य आदि के द्वारा भी इसका अनुमान होता है।

## रक्तचाप रोग के कारण

| आहार दोष | विहारजन्य | कुलज | मानसिक | व्याधिजन्य |
|---|---|---|---|---|
| अतिउष्ण | रात्रिजागरण | मातृज | चिन्ता | स्थौल्य |
| अतिरूक्ष | अकर्मण्यता | पितृज | क्रोध | मेदोरोग |
| अतिस्निग्ध | अतिश्रम | बीजदोष | भय | मधुमेह |
| गुरूआहार | दिवास्वप्न | माता के वंश | शोक | वातरक्त |
| तीक्ष्णआहार | | तथा | अतिहर्ष | |
| हृदयरोग | | | | |
| अभिष्यन्दी | | पिता के | | |
| | | वंश | उद्वेग जन्य | |
| विबंधकारी | | से | रजोगुण | |
| | | | वृद्धि | |
| दूषिताहार | | आगत | | |
| पर्युषितआहार | | | | |
| अध्यशन | | | | |
| अजीर्ण, आमदोष। | | | | |

**चिकित्साः–** (१) जटामांसी–१० ग्राम जटामांसी का क्वाथ फाण्ट या हिम के रूप में दिन में दो बार प्रयोग करें। (२) सर्पगन्धा एक से दो ग्राम दूध से दिन में दो बार देना उपयुक्त। (३) गूडुचि–स्वरस ५–१० मि०मी० या २० ग्राम क्वाथ दिन में दो या तीन बार लेना लाभकारी होगा। (४) भृंगराज स्वरस १०–२ मि०मी० या २० ग्राम औषध का क्वाथ या फाण्ट दिन में दो बार लेना उपयुक्त है। (५) आमलकी स्वरस–५–१० मि०मी० चूर्ण एक से तीन ग्राम या आमलकी रसायन २५० से ५०० मि०ग्राम की मात्रा में विषम प्रयोग में मधु एवं घृत के साथ लेना लाभदायक है। (६) शंखपुष्पी स्वरस ५ से १० मि०ली० पंचांग चूर्ण इसे ६ ग्राम क्वाथ हिमत्या फाण्ट के रूप में सेवन करने से लाभकारी है। (७) शिलाजतु– शुद्ध सूर्यतापी शिलाजतु एक ग्राम की मात्रा में प्रातः सायं दुग्ध से। (८) शोभाञ्जन– सौभांजन पत्र स्वरस– पुष्पस्वरस अथवा क्वाथ या सब्जी के रूप में सेवन करने से इस व्याधि में लाभदायक होता है।

# ॥ एकादशोऽध्यायः॥

## वातवह संस्थान संबंधी विकार

**वात के कुपित होने के कारणः–** रूक्ष शीतल वस्तुओं का सेवन, अल्प मात्रा में तथा लघु अन्न का सेवन, अधिक मैथुन, अधिक रात्रि जागरण, विषम अन्य उपचार से अर्थात् वमनादि पञ्चकर्मों का अनुचित रूप से सेवन और सात्म्य, विरूद्ध आहारों का सेवन, शारीरिक चेष्टाओं का अनुचित रूप में प्रवृत्त करना आदि विषम उपचार दोष और रक्त को अधिक मात्रा में निकालना, लांघना(कूदना) प्लवन (तैरना), अधिक चलना, अधिक व्यायाम आदि चेष्टाओं को उचित रूप से न करने से रस–रक्तादि धातुओं का क्षय, चिन्ता, शोक और चिरकाल से पीड़ित रोगों से अत्यन्त कृश हो जाना, सुख पूर्वक शयन न करना, सूखपूर्वक न बैठना, क्रोध, दिन में सोना, भय, मल–मूत्रादि के वेगों को रोकना, आमदोष, चोट लगना, भोजन न करना, मर्म स्थान में चोट लगना, हाथी, ऊँट, घोड़ा आदि शीघ्र चलने वाली सवारियों से गिरना आदि से शरीर में रिक्त स्रोतों को बलवान वायु कुपित होकर भर देती है। इससे शरीर के सम्पूर्ण भागों में या किसी अंगविशेष में होने वाले अनेक रोगों को उत्पन्न करती है।

**कुपितवायु के लक्षणः–** अंग प्रत्यङ्गों में संकोच का होना, पर्वों (गाठों) में जकड़ाहट, अस्थियों तथा पर्वों में भेदनवत वेदना, रोमाञ्च, प्रलाप, पैर, पीठ और शिर में जकड़ाहट, लंगड़ापन, कुबड़ापन, अंगों का सूखना, निद्रा का न आना, गर्भ का गिर जाना, शरीर में कंपन होना, शरीर में शून्यता का होना, शिर, नाक, नेत्र, जत्रु और ग्रीवा प्रदेश का टेढ़ा हो जाना या दब जाना, शरीर में भेदनवत पीड़ा, सूई चुभोने के समान पीड़ा, अंगों में आक्षेप, मोह, परिश्रम न करने पर भी थकावट प्रतीत होना, इस प्रकार के अनेक लक्षणों को कुपित वायु उत्पन्न करती है।

### सन्धिवात

**क्षेत्रीय नामः–** बं०– सन्धिवात, हि०– सन्धिवात, मरा०– सन्धिवात , गु०– सान्धनो वा, इं०– आरथ्रायटिस।

कुपित वायु सन्धियों को प्रभावित कर उनमें शूल, शोथ एवं कर्महानि उत्पन्न कर देता है। इसे ही सन्धिगत वात कहते हैं। अधिकतर इसमें बड़ी सन्धियाँ प्रभावित होती है।

**चिकित्साः–** (१) गुग्गुल एक से तीन ग्राम कोष्ण जल के साथ दिन में तीन बार प्रयोग करें। (२) वातगजांकुश रस– एक से तीन वटी का कोष्ण जल के साथ दिन में तीन बार प्रयोग करें। (३) योगराज गुग्गुल–एक से दो ग्राम कोष्ण जल के साथ दिन में तीन बार प्रयोग करें।

**वाह्य प्रयोगः–** सर्षप बीज, एल बालुक, शिग्रुत्वक्, मरिच, आर्द्रक, कृष्ण लवण एवं धत्तूर मूल के ऊष्ण लेप का पीड़ित अंगों (सन्धि) पर प्रयोग करें।

## आमवात

**क्षेत्रिय नामः–** बं०– आमवात, हि०– गठिया, मरा०–आमवात, इं०– रूमेटिजम्।

कोष्ठ में दूषित हुई आम एवं वायु त्रिकसन्धि एवं अन्य सन्धियों में शूल, क्षुधा मांद्य, अपचन, अंगमर्द, जाड्यता एवं हृत्प्रदेश में भारीपन तथा दौर्बल्य उत्पन्न कर देता है, तो इस व्याधि को आमवात कहा जाता है।

**लक्षणः–** एक या अनेक सन्धियों में शोथ व शूल होता है, विशेषकर हाथ, पैर, टखनों, घुटनों, जंघा, उरु, कटि एवं त्रिक प्रदेश में बिच्छुओं के काटने जैसी पीड़ा होती है। अपचन, क्षुधामांद्य, ज्वर, वेदना, शरीर गौरव, उत्साह हानि, अनिद्रा, जाड्य( हृत्प्रदेश में) व विबन्ध आमवात के रोगियों में होते हैं।

**चिकित्साः–**(१) दो ग्राम शुण्ठी चूर्ण ५० मि०ली० कदुष्ण जल से दिन में दो बार देना चाहिए। (२) गुडूच्यादिक्वाथ– १४ से २८ मि०ली० दिन में दो बार लेना चाहिए। (३) महारास्नादिक्वाथ– २८ से ५६ मि०ली० की मात्रा में दिन में दो बार भोजन से पहले लेना चाहिए। (४) हिंगुलेश्वर रस– एक से दो गोली ५० मि०ली० कदुष्ण जल से दिन में दो बार लेनी चाहिए।

**स्थानिक प्रयोगः–** निम्न लिखित प्रलेपों के प्रयोग शोथ एवं शूल दूर करने में उपयोगी हैं– (१) बालुकापोट्टलि से प्रभावित संधियों पर सेंक करना चाहिए। (२) एरण्डमूल क्वाथ को समशीतोष्ण रखते हुए प्रभावित संधियों पर सेंक करना चाहिए। (३) विषगर्भ तैल–की प्रभावित संधियों पर मालिश करनी चाहिए।

**पथ्यः–** रक्तशालि, कोद्रव, यव, कुलत्थ, उष्णोदक, आर्द्रक, रसोन, पटोल पत्र, पुनर्नवामूल, वास्तुक(बथुआ), करेला (फल) आमवात में पथ्य माने जाते हैं।

**अपथ्यः–** गुरु एवं अभिष्यन्दि आहार, दुग्ध, दही, गुड़, असात्म्य एवं अवांछित भोज्य पदार्थ, मत्स्य, रात्रि जागरण, वेगावरोध, पूर्वी वायु का सेवन आदि आमवात के रोगियों के लिए हानिकारक होते हैं।

## पक्षाघात

**क्षेत्रीय नामः–** बं०– पक्षाघात, गु०, हि०– लकवा, मरा०– लकवा, अं०– परालिसिस। शरीर के एक भाग के घात (परालिसिस) को पक्षाघात या पक्षवध कहते हैं।

**लक्षणः–** शरीर की एक हिस्से की क्रिया की हानि, पीड़ित भाग या सम्पूर्ण देह में शून्यता पक्षवध के सामान्य लक्षण हैं। इस विकार में पित्त का प्रकोप होने की स्थिति में रोगी अचेत हो जाता है।

**चिकित्साः–** (१) बलामूल क्काथ–१४ से २८ मि०ली० की मात्रा में दिन में तीन बार प्रयोग करें। (२) महारास्नादि क्काथ– १४ से २८ मि०ली० का दिन में तीन बार प्रयोग करें।

**रोग के गम्भीर या तीव्र आक्रमण मेंः–**(१) तिल तैल १२ से २४ ग्राम, रसोन कन्द दो ग्राम, सैन्धव एक ग्राम का दिन में दो बार प्रयोग करें। (२) एकांगवीर रस– ६० से २५० मि०ग्राम मधु के साथ दिन में तीन बार प्रयोग करें।

(३) रसराज– ६० से २५० मि०ग्राम मधु के साथ दिन में तीन बार प्रयोग करें। (४) लसुनादि वटी– २ से ४ वटी दिन में दो बार प्रयोग करें।

**विरेचन में उपयोगी औषधियाँः–** (१) त्रिफला चूर्ण– ३ से ६ ग्राम गुनगुने जल के साथ दिन में दो बार प्रयोग करें। (२) एरण्ड तैल– १४ से २८ मि०लि० गुनगुने जल के साथ दिन में एक बार प्रयोग करें।

**बाह्य प्रयोगः–** गुनगुने बला या महामाष तैल या नारायण तैल या पृश्निपर्णी तैल या सरल निर्यास तैल से अभ्यंग (मालिश) करें।



# ॥ द्वादशोऽध्यायः॥

## मनोविकार (अपस्मार)

**क्षेत्रीय नामः–** बं०– मृगीरोग, हि०– मिरगी, म०– अपस्मार, मरा०– अपस्मार, पं०– मिर्गी, अं०– इपिलेप्सी।

अपस्मार वह रोग है, जो वेगों में आता है एवं बुद्धि (मेधा) एवं मन की विकृति के कारण रोगी अपनी स्मरण शक्ति या संज्ञा को थोड़ी देर के लिए खो देता है।

**लक्षणः–** यह वेगों में आता है, रोगी काल्पनिक वस्तुएँ देखता है एवं गिर जाता है। नेत्र भौहें विकृत हो जाते हैं। मुख से झाग आता है, कम्प एवं पैरों में ऐंठन, वेग अल्प समय तक रहता है। तत्पश्चात् रोगी अपनी संज्ञा में वापस आ जाता है एवं उसे ऐसा प्रतीत होता है कि नींद से सोकर उठा है।

**चिकित्साः–** (क) आवेग के समय–रोगी के ऊपर शीतल जल छिड़कें एवं उसे वायु युक्त स्थान में लें जाएँ। निम्न औषधियों में से कोई भी स्थानिक प्रयोग के लिए उपयोग करें–(१) पलाण्डु(प्याज) का रस ५ से १० बूंद नाक में नस्य के रूप में डालें। (२) सर्षप तैल को ४ गुने बकरी के मूत्र के साथ उबालें एवं तैल पाक विधि से तैल बनायें, इससे रोगी के पूरे शरीर की मालिश करें। (ख) आवेगों के बीच में– अपस्मार के वेगों को रोकने के लिए निम्न औषधियाँ उपयोगी हैं–(१) ब्राह्मी के सम्पूर्ण क्षुप का स्वरस( ताजा रस) १४ से २८ मि०लि० की मात्रा में ४ से ६ ग्राम शहद के साथ दिन में दो बार लें। (२)शतावरी(सतावर) की जड़ का चूर्ण १२ ग्रा०, १०० से २५० मि०लि० दूध के साथ दिन में दो बार लें। (३) वच के कन्द का चूर्ण एक ग्राम की मात्रा में ४ से ६ ग्राम शहद के साथ दिन में दो बार लें। (४) जटामांस्यादि क्वाथ– १४ से २८ मि०लि० ४ से ६ ग्राम शहद के साथ दिन में दो बार लें। (५) अश्वगंधारिष्ट १४ से २८ मि०लि० समान मात्रा में जल के साथ दिन में दो बार भोजन के बाद लें। (६) सारस्वतारिष्ट– १४ से २८ मि०लि० समान मात्रा में जल के साथ दिन में दो बार भोजन के बाद लें।

**पथ्यः–** गेहूँ, मूंग, शालि प्रकार का चावल, दूध, घी, ब्राह्मी की पत्ती, परवल(पटोल), चौलाई, वास्तुक (बथुआ) के पत्ते, द्राक्षा(मुनक्का) अपस्मार रोगी के लिए उपयोगी आहार है।

**अपथ्यः–** मद्य, गरम आहार, विरूद्ध आहार, प्राकृतिक वेगों यथा भूख–प्यास, निद्रा का विधारण एवं अशौच स्थान में निवास को वर्जित करें। रोगी की जल स्रोतों यथा– कुएँ, तालाब आदि एवं अग्नि से रक्षा करें।

## उन्माद

क्षेत्रीय नामः–बं०– उन्माद, हि०–पागलपन, मरा०–उन्माद, अं०– इन्सैनिटी।

उन्माद रोग की पहिचान मस्तिष्क की अस्थिरता से की जाती है। इसके साथ ही पीड़ित व्यक्ति की बुद्धि, संज्ञा, स्मृति, भक्ति, शील, चेष्टा, व्यवहार एवं आचार भी बाधित होते हैं।

**लक्षणः–** बुद्धिभ्रंश, मन की अस्थिरता, स्मृतिह्रास, विज्ञान का विभ्रम, शोक एवं आनन्द के अनुभव की अक्षमता, समाज के प्रति अप्राकृतिक एवं अनुचित व्यवहार करना, अनियमित एवं अस्पष्ट बातें करना, बेचैनी, अदृढ़ता, नेत्रों की विकृत चेष्टा, मन की शून्यता आदि इस रोग के सामान्य लक्षण होते हैं।

**चिकित्साः–** (१) वचामूल चूर्ण एक से दो ग्राम की मात्रा में दिन में दो बार गौ दुग्ध से लेना चाहिए। वास्तुक पटोल पत्र एवं पटोल फल, कूष्माण्ड फल, द्राक्षा इस रोग से ग्रसित व्यक्तियों के लिए सदैव लाभप्रद होते हैं।

**अपथ्य–ः** असात्म्य आहार पदार्थ, ऊष्ण एवं मसालेदार भोजन तथा मद्य हानिकारक होते हैं। निद्रा, भूख, प्यास जैसे अधारणीय वेगों का विधारण भी नहीं करना चाहिए। (२) ब्राह्मी पंचाग चूर्ण– एक से तीन ग्राम की मात्रा में ४ से ६ ग्राम मधु एवं १०० से २०० मि०लि० गौ दुग्ध के साथ दिन में तीन बार लेना चाहिए। (३) जटामांसी चूर्ण– एक से तीन ग्राम गौ दुग्ध के साथ दिन में दो बार लेना चाहिए। (४) सर्पगन्धा चूर्ण– १–२ ग्रा०, १०० से २५० मि०लि० गौ दुग्ध के साथ दिन में तीन बार लेना चाहिए। (५) द्राक्षासव– १४ से २८ मि०लि० की मात्रा में सम जल के साथ भोजनोत्तर दिन में दो बार लेना चाहिए। (६) हिमसागर तैल– इसका दिन में दो बार मस्तक पर अभ्यंग करना चाहिए। (७)वृहदविष्णु तैल– इसको दिन में दो बार मस्तक पर लगाना चाहिए।

**पथ्यः–** शालि चावल, धारोष्ण गौदुग्ध, ब्राह्मी पत्र, तण्डुलीयक(चौलाई)।

## मानसिक तनाव जन्य विकार

**प्रकारः–** तनाव तीन प्रकार के होते हैं–

(१) शारीरिक तनाव। (२) मानसिक तनाव। (३) भावनात्मक तनाव।

**(१) शारीरिक तनावः–** लम्बे समय तक लगातार एक ही प्रकार का काम करने और अत्यधिक श्रम करने के कारण जो थकान उत्पन्न होती है, उसे शारीरिक तनाव कहा जा सकता है। थक जाने या बहुत श्रम करने के बाद मनुष्य इस कदर लस्त–पस्त हो जाता है, कि उसकी और कुछ करने की बात तो दूर रही कुछ कहने या सुनने की इच्छा नहीं होती। यहाँ आवश्यक नहीं है कि

बहुत अधिक सोने, दिन चढ़े तक पड़े रहने, ज्यादा खाने, आवश्यकता से अधिक आराम करने के कारण भी मस्कुलरटेन्सन उत्पन्न होता है। आहार–विहार की गड़बड़ी, अस्त–व्यस्तता भी शारीरिक तनाव उत्पन्न करती है।

जहाँ तक अधिक श्रम के कारण उत्पन्न हुई थकान से पैदा होने वाले शारीरिक तनाव का प्रश्न है, वह मुख्यतः दो कारणों से उत्पन्न होता है। (१)अनिच्छा पूर्वक कार्य करना। (२) मैं काम कर रहा हूँ , यह भावना काम करते समय विद्यमान रहना।

श्रम की यह भावना कि मैंने काम किया, यदि मनुष्य किसी प्रकार भूल जाय तो तीन– चार घण्टे का विश्राम कर आसानी से सोलह घंटे तक काम कर सकता है।

(२) **मानसिक तनावः–** यह बहुत अधिक सोचने–विचारने या चिन्ता करने से उत्पन्न होता है। सोचना केवल उसी दिशा और उसी विषय में चाहिए, जिसमें कि सोच विचार आवश्यक हो। परन्तु अधिकांश व्यक्ति काम की बातें बहुत कम और व्यर्थ की बेकार या उलूल–जलूल की बातें ज्यादा सोचते हैं जिनसे वर्तमान जीवन का कोई सम्बन्ध नहीं होता। पिछली बातें या घटनाएँ जिनके अनहुआ करना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। अधिकांश व्यक्ति उन्हीं की स्मृतियों में डूबते–उतरते रहते हैं। सोच–सोच कर परेशान होते रहते हैं। किसी से लड़ाई हो गयी, किसी ने गाली दे दिया, अपमान कर दिया अथवा कोई दुर्घटना हो गयी तो इतने मात्र से लम्बे समय तक मानसिक सन्तुलन अस्त–व्यस्त हो गया। इस तरह के मानसिक तनाव का पहला परिणाम नींद कम हो जाने के रूप में होता है।

अत्यधिक सोच– विचार और चिन्ता करने से उत्पन्न होने वाला मानसिक तनाव यदि लम्बे समय तक बना रहे तो "मेंटल रिटार्डेशन" नामक स्थिति आ जाती है। इस स्थिति में आने पर मस्तिष्क की शक्तियाँ काम करना बन्द–सा कर देती है और मस्तिष्क लगभग सुन्न सा हो जाता है। आधुनिक जीवन की यांत्रिक सभ्यता के कारण उत्पन्न होने वाले मानसिक तनाव के परिणामस्वरूप "मेंटल रिटार्डेशन" के लाखों मामले प्रकाश में आ रहे हैं। इस दुःस्थिति का सामना तो मानसिक तनाव सहपाने की क्षमता सीमा टूट जाने के बाद उत्पन्न होती है। प्रथम तो इनके लगातार बने रहने के कारण अवसादग्रस्तता बन जाती है। जिसे डिप्रेशन भी कहा जाता है।

इस प्रकार का तनाव बढ़ जाने पर शिराएँ फटने सी लगती है। आँखें कमजोर हो जाती हैं। नशा पीने की इच्छा होती है। यदि शारीरिक और मानसिक तनाव दोनों प्रकार के तनाव एक साथ उत्पन्न हो गये तो काम और क्रोध के आवेग भी बार–बार पैदा होने लगते हैं।

**(३) भावनात्मक तनावः**–प्रायः भावनाएँ यथार्थ पर निर्धारित नहीं होती; किन्तु अत्यधिक आसक्ति के कारण मनुष्य उन्हीं से चिपके रहते हैं। किसी का प्रिय, मित्र, पुत्र, पति अथवा पत्नी या रिस्तेदार कल आने वाला हो तो उसे रात भर नींद नहीं आती। एक घण्टे बाद परीक्षाफल घोषित होने वाला है तो दिल की धड़कन बहुत बढ़ गयी। दूर कहीं प्रवास पर हैं, रात में सहसा किसी की याद आ गयी तो नींद गायब, यही है भावनात्मक तनाव।

शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य पर इनकी तीखी प्रतिक्रिया होती है, जिनसे अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। मानसिक तनाव के कारण सिर दर्द रहता है तो साधारण सी बात है। कई बार पेट के फोड़े (अल्सर), उच्चरक्त चाप, हृदय रोग तथा अन्य बीमारियाँ उत्पन्न होती हैं। समय पर तनावों का यदि नियन्त्रण, समाधान नहीं किया गया तो हाइपरटैंशन, हार्ट अटैक या पैरालिसिस जैसे रोग उत्पन्न हो जाते हैं और जीवन अस्तित्व को ही संकटग्रस्त कर देते हैं।

इस प्रकार के रोग किसी भी तरह के तनावों के कारण उत्पन्न हो सकते हैं। कभी मास्कुलर टेंशन से, कभी मेन्टल टेंशन से, कभी तीनों के सम्मिश्रित कारणों से इस प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

उदाहरण के लिए थके हुए व्यक्ति को बहुत जल्दी क्रोध आता है। क्रोध आने के अलावा जल्दी थक जाने वाले व्यक्ति चिंतित भी रहते हैं। दिमागी उलझन में फँसे व्यक्ति को सिर दर्द, हृदय की पीड़ा, अम्लता, कब्ज आदि रोग तंग करते रहते हैं। जब व्यक्ति अपने को उपेक्षित समझता है और उसकी भावनाएँ अतृप्त रहती है, तो दमा, यक्ष्मा, आर्थराईटिस, कुष्ठ आदि रोग उत्पन्न होने लगते हैं।

**चिकित्साः**– तनाव किसी भी क्षेत्र में संव्याप्त क्यों न हो, उससे जीवनी शक्ति का क्षरण होता है। शारीरिक तनाव शारीरिक और मानसिक श्रमवर्धक आहार–उपचार लेने से इसकी क्षतिपूर्ति थोड़े ही समय में हो जाती है। किन्तु मानसिक या भावनात्मक तनाव ऐसे होते हैं, जिनके मूल में गहरे आघात विद्यमान रहते हैं। आघातों से उत्पन्न हुये ये घाव नासूर बन जाते हैं और समय–समय पर उभरते– फूटते रहते हैं। यह स्मरण रखा जाना चाहिए कि शारीरिक स्वास्थ्य को नष्ट करने में केवल आहार–विहार की अनियमितता ही कारण नहीं है। मानसिक शान्ति को नष्ट करने में केवल प्रतिकूल परिस्थितियाँ ही निमित्त नहीं होती। वरन् उनका कारण मनुष्य की भावनात्मक दुर्बलता और मानसिक सन्तुलन का अभाव भी है। क्योंकि बड़े–बड़े संकट सामने होने पर भी कितने ही मनस्वी लोग उन्हें सामयिक चुनौती मात्र मानते हैं और उनका मुकाबला खेल के मैदान में गेंद से जूझने वाले खिलाड़ियों की तरह करते हैं। इसके विपरीत

कितने ही व्यक्ति विपत्ति की कल्पना मात्र से घबड़ा उठते हैं और इतने असन्तुलित हो जाते हैं, मानों आपत्तियों का पर्वत ही उन पर टूट पड़ा हो।

जो भी हो, तनाव के कारण उत्पन्न होने वाले दुष्परिणामों को जितना विघातक माना जाय उतना कम है। इनके कारण उस जीवनी शक्ति का बुरी तरह अपव्यय होता है जिस पर स्वास्थ्य– सन्तुलन, शान्ति और आनन्द निर्भर रहते हैं। दीपक का यदि तेल समाप्त हो जाय तो वह मात्र रूई बत्ती आदि के सहारे ही ज्वलन्त नहीं रखा जा सकता। जीवनीय शक्ति को मानवीय सत्ता का तेल भण्डार कहा जा सकता है। तनाव का सीधा आक्रमण उसी पर होता है और उतनी तेजी से सोचने समझने की क्षमता और व्यवस्था पूर्वक कुछ करने की दोनों सम्भावनाएँ ही अस्त–व्यस्त होती चली जाती हैं। इस स्थिति में फँसकर व्यक्ति खोखला बनकर रह जाता है। ऐसे व्यक्ति न केवल स्वयं संतप्त रहते हैं, वरन् सम्पर्क में आने वालों को भी अपने व्यवहार से उद्विग्न करते हैं।

तनाव के कारण मनःस्थिति दिनोंदिन दुर्बल होती चली जाती है, उसके साथ ही दुर्बल मनःस्थिति के व्यक्ति छोटे–छोटे कारणों से भी भयंकर तनावग्रस्त हो सकता है। अतः तनाव से छुटकारे की युक्ति भी सभी को आनी चाहिए।

प्रतिकूल स्थिति उत्पन्न होने पर विचार करना चाहिए कि उसकी चिन्ता करने, असन्तुलित होने के स्थान पर उतार– चढ़ाव को स्वाभाविक मानते हुये सन्तुलन बनाये रखने की दूरदर्शिता अपनानी चाहिए, तथा प्रस्तुत प्रतिकूलताओं के साथ खिलाडी की भावना से आँख मिचौली खेलने की दृष्टि रखनी चाहिए। इस तरह का साहस– ऐसा दृष्टिकोण रखा जाय तो फिर कोई भी कठिनाई ऐसी नहीं रह जाती, जिसका प्रयत्न पूर्वक हल अथवा धैर्यपूर्वक समाधान न किया जा सके।

सर्व प्रथम तो उन स्थितियों को समझने और उनके कारणों को पहचानने की चेष्टा की जानी चाहिए। जिनसे तनाव या चिन्ताएँ उत्पन्न होती हैं। चाहे परिवार के असामंजस्य के कारण उत्पन्न होने वाला तनाव हो या आर्थिक कठिनाइयों से पैदा हुई चिन्ता हो। कई बार बहुत सी समस्याएँ व्यक्ति को परेशान किये रहती हैं, उन सबको एक साथ सोचने का अर्थ है– सब शत्रुओं को एक साथ लड़ने के लिए चुनौती देना। सब समस्याओं पर एक साथ विचार करने के कारण किसी भी समस्या का समाधान नहीं हो पाता और परेशानियाँ अपने स्थान पर खड़ी रहती हैं। इस स्थिति से निबटने के लिए कारगर उपाय यह है कि एक–एक समस्या को क्रमवार सुलझाया निबटाया जाय।

समस्याओं के समाधान में सन्तुलित और सुलझी हुई नीति अपनाने के साथ यह भी आवश्यक है कि सुखद सम्भावनाओं की आशा लगाने की तरह दुःखद दुर्घटनाओं एवं प्रतिकूल परिस्थितियों को भी ध्यान में रखना चाहिए। उस तरह सजग रहने पर ढेरों कठिनाइयों से बचा जा सकता है।

कम से कम तनाव के बोझ को तो हल्का किया ही जा सकता है। श्रम–सन्तुलन और आहार–विहार की सुव्यवस्था बनाये रहकर शारीरिक तनाव से बचा जा सकता है। मानसिक श्रम अदलते– बदलते रहकर और किये जा रहे कार्यों में दिलचस्पी रखते हुये, उन्हें सुव्यवस्थित बनाने का कला–कौशल प्रस्तुत करने की रीति–नीति अपनाकर मानसिक तनाव से बचा जा सकता है।

## "शिरोरोग के कारण"

मूत्र, पुरीष, शुक्र, अपानवायु, वमन, छींक, डकार, जम्हाई, भूख, प्यास, आँसू, निद्रा, परिश्रम से उत्पन्न श्वास के वेगों को नहीं रोकना चाहिए। परन्तु लोभ, शोक, भय, क्रोध, अहंकार, निर्बलता, ईर्ष्या, अतिराग(प्रेम) अभिध्या(दूसरे का धन लेने की इच्छा) आदि मानस वेगों को रोकना चाहिए; परन्तु उन पर नियन्त्रण न कर पाने से, दिन में शयन करने से, रात्रि में जागने से, नशीली वस्तुओं के सेवन से, उच्चस्वर से बोलने से, ओस लगने से, पूर्वी हवा में बैठने से, अधिक मैथुन करने से, मन के विपरीत गन्धों के सेवन से, धूलि धुँआ, शीत, धूप के सेवन करने से, गुरु, अम्ल और हरे मसाले जैसे आदी, मरिच, आदि के सेवन से, अत्यन्त ठण्डे जल के पीने से या उसमें स्नान करने से, शिर पर चोट लगने से, आमदोष के अधिक दूषित होने से, अधिक रोने से, आँसू के वेग रोकने से, आकाश में अधिक मेघों के आने से, मानसिक कष्ट से और देश एवं काल की विपरीतता से वातादि दोष कुपित हो जाते हैं और वे शिर में जाकर रक्त को दूषित कर देते हैं, फलस्वरूप शिर में अनेक प्रकार के लक्षणों से युक्त रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

**अर्धावभेदक के कारणः–** रूक्ष भोजन, अधिक भोजन, अध्यशन, पूर्वी हवा, ओस, मैथुन, मलमूत्र के वेगों को रोकना, परिश्रम व व्यायाम से प्रकुपित हुयी वायु अकेली या कफ के साथ मिलने से बलवान होकर, शिर के आधे भाग को जकड़कर भृकुटि, शङ्ख प्रदेश, कर्ण, नेत्र तथा ललाट के आधे भाग में शस्त्र के काटने अथवा अरणीमन्थन के समान तीव्र वेदना उत्पन्न करती है।

## सूर्यावर्त रोग के कारण

शिरो रोग के हेतु में वर्णित मल–मूत्रादि वेगों को रोकना, अजीर्ण आदि कारणों से सूर्यावर्त रोग होता है।

## शिरोरोग

**क्षेत्रीय नामः**–हि०–शिरा के रोग, गुज०–मथान रोग, मरा०– शिरो रोग।

शिर में किसी प्रकार का क्लेश अथवा दर्द का अनुभव होना शिरोरोग कहलाता है। साधारण प्रकार के सिर दर्द के लक्षण व चिकित्सा निम्न हैं–

**शिरःशूलः**– वात, पित्त, कफ व रक्त दोष की दुष्टि होने पर शिरःशूल होता है। क्षय व कृमि भी इस रोग के मुख्य कारण हैं।

**वातिक शिरःशूलः**– इस प्रकार का शिरःशूल बिना किसी निश्चित् कारण के उत्पन्न होता है, जो रात्रि में बढ़ता जाता है और पट्टी बाँधने व गर्म पदार्थों के प्रयोग से इसमें लाभ मिलता है।

**पैत्तिक शिरःशूलः**– इस प्रकार के शिरःशूल में स्वतः रात्रि में शमन या ठंडे पदार्थों के सेवन से कमी एवं रोगी को नेत्र तथा नाक में जलन एवं शिर में गर्मी का अनुभव होता है।

**रक्तज शिरःशूलः**– पैत्तिक शिरःशूल के लक्षणों के साथ यदि रोगी सिर में स्पर्शासह्यता का अनुभव करे, तो उसे रक्तज शिरःशूल कहा जाता है।

**कफज शिरःशूलः**– सिर में भारीपन एवं स्तब्धता का अनुभव, चेहरे एवं नेत्र में सूजन आदि के लक्षण उत्पन्न होने को कफज शिरःशूल कहा जाता है।

**चिकित्साः**– (१) महालक्ष्मी विलास रस– ६० से १२० मि०ग्रा० का प्रयोग ४ से ६ ग्राम शहद के साथ दिन में दो बार करना चाहिए। (२) १८० मि०ग्रा० से २०० मि०ग्रा० की मात्रा में सर्पगंधा चूर्ण, ४ से ६ ग्राम शहद के साथ दिन में तीन बार सेवन करना चाहिए।

## अर्धावभेदक

**क्षेत्रीय नामः**– हि०–आधा कपाल, गु०–आधाशीशी, मरा०– अरध शीशी, अं०–हेमिक्रेनिया।

सिर के एक हिस्से में होने वाले दर्द को अर्धावभेदक कहा जाता है। इस दशा में रोगी को सिर में फटने व जलन युक्त, विशेषतः पार्श्व भाग, कान, आँख, या भौंहों तथा ललाट पर तीव्र वेदना होती है।

**चिकित्साः**– (१) त्रिभुवन कीर्तिरस– एक से दो गोली, १०० से २५० मि०लि० दूध के साथ दो बार सेवन करना लाभकारी है।

(२) गोदन्ती भस्म– एक ग्राम, १२ से २४ मि०ली० लघुपंचमूल क्काथ के साथ दिन में दो बार सेवन करना चाहिए।

### सूर्यावर्त्त

**क्षेत्रीय नामः–**हि०– सूर्यावर्त, मरा०–सून्यवरत,
अं०–क्रोनिकसाईनूसाइटिस।

सूर्योदय के साथ सिर दर्द प्रारम्भ हो, मध्यान्ह तक बढ़े व इसके बाद कम होने लगे एवं सूर्यास्त के साथ ही आराम आ जाए, तो वह सूर्यावर्त्त कहलाता है। विशेष रूप से यह आँखों व पलकों के पीछे होता है।

**चिकित्साः–** (१) १२ से २४ ग्राम घी का, २५० मि०ली० दूध के साथ दिन में तीन बार प्रयोग करना चाहिए। (२) एक ग्राम घी, ५०० मि०ग्राम सैंधव तथा २८ मि०ली० दशमूल क्काथ का मिश्रण बनाकर नस्य बनावें। इसकी दो से चार बूंद नस्य के रूप में प्रयोग करना चाहिए।

**पथ्यः–**शालि व शास्ती चावल, पटोल व शिग्रु के फल, वास्तूक पत्र (बथुआ), द्राक्षाफल, आम व आमलकी, विजौरा, नारियल, कपूर, खसमूल, भृगंराज पंचांग, दूध, छाछ, पुराना घी व चन्द्रमा की रोशनी का सेवन लाभप्रद है।

## ॥ त्रयोदशोऽध्यायः॥

## नेत्र रोग के सामान्य कारण

अधिक गर्मी में रहने के उपरान्त एकाएक शीतल जल में प्रवेश करने से, दूर की वस्तु को अधिक देखने से, स्वप्न विपर्यय, उचित समय पर निद्रा न लेना या दिन में सोना और रात्रि में जागना, आँखों में स्वेदन या धूप तथा धूलि और धूम का आँखों के साथ सम्पर्क होने से, वमन को रोकने से या वमन की अति प्रवृत्ति से, रात्रि में द्रव बहुल अन्न के अधिक सेवन करने से, मल–मूत्र या वायु का वेग धारण करते रहने से, निरन्तर रोने तथा क्रोध व शोक करने से, ऋतुओं के विपर्यय से, मानसिक तथा शारीरिक क्लेश से, अतिमैथुन, आँसुओं के अवरोध तथा निरन्तर, सूक्ष्म निरीक्षण से प्रकुपित हुये दोष आँख में रोगों को उत्पन्न कर देते हैं।

### नेत्र रोग

**क्षेत्रीय नामः–** हि०– आँख के रोग, मरा०दो ल्यांचे रोग, ई०– डिसिसेज आफ दि आई।

सामान्य नेत्र रोगों के लक्षण एवं चिकित्सा निम्नवत है–

**नेत्राभिष्यन्द**

**क्षेत्रीय नामः–** हि०– आँख आना, मरा०– डोले येने, गुज०– आँखदुखवी, इं०– कंजंक्टिवायटिश।

नेत्राभिष्यन्द एक नेत्र रोग है, जो श्लेष्मा कला की शोथ और लालिमा के साथ विभिन्न प्रकार की पीड़ा और नेत्र से अश्रु (जल) स्राव द्वारा अभिलक्षित होता है। जड़ता की अनुभूति, जलन, नेत्र में भारीपन या कण्डू और शिरःशूल नेत्राभिष्यन्द के अन्य लक्षण हैं। कुछ दशा में पूयोत्पत्ति भी होती है।

**चिकित्साः–** (१) घृत १२ से २४ ग्राम भोजन के साथ या पाँच ग्राम शर्करा के साथ दिन में तीन बार। (२) त्रिफला क्वाथ में १०० मि०ली० दूध को सिद्ध कर दिन में दो बार। (३) रूई को ऊष्ण घी या ऊष्ण अजादुग्ध या ऊष्ण तिल तेल से डुबोकर नेत्र का सेंक करना चाहिए। (४) नेत्रबिन्दु– दो से चार बूँद नेत्रों में दिन में चार बार टपकावें।

**कुकूणक**

**क्षेत्रीय नामः–** हि०– किर्थवा, मरा०– कुकुणव, इं०– कंजक्टिवाइटिस।

कुकूणक स्तनपायी शिशुओं के वर्त्म प्रदेश का रोग है। इसमें रोगी का वर्त्म शोथयुक्त लालिमा, कण्डू और स्राव युक्त होता है। बालक निरन्तर अपना ललाट, नेत्र तथा नासा रगड़ता रहता है और धूप नहीं देख सकता है।

**चिकित्साः–**(१) समप्रमाण में लिए गये हरीतकी फल त्वक्, द्राक्षा और पिप्पली फल का क्वाथ सात से चौदह मि०लि० को दिन में दो बार दुग्ध पान कराने वाली माँ को लेना चाहिए। (२) आमलकी फल त्वक्, लकुची फल और जम्बू पत्र के क्वाथ से नेत्र परिषेक करना चाहिए।

**अर्म**

**क्षेत्रीय नामः–** हि०–नखूना, मरा०– अर्म,।

**लक्षणः–** अर्म रोग वह रोग है, जिसमें नेत्र के नासा भाग से एक त्रिकोणीय कला का चकता बनकर तार मण्डल की ओर फैलता है।

**चिकित्साः–**(१) समप्रमाण में त्रिकटु और सैंधव के महीन चूर्ण को शहद में मिलाकर द्रव अंजन बनाकर अंजन करना चाहिए। (२) करंज बीज, आमलकी फल त्वक् और यष्टीमधु मूल का कल्क लें और इसे शहद में मिलाकर बिन्दु बना लें। इसकी दो से चार बूंद नेत्र में डालना चाहिए।

## पोथकी

**क्षेत्रीय नामः–** हि०– राहुआ, रोहे, कथुआ, मरा०– खुपय, इं०– ट्रैकोमा।

**लक्षणः–** यह एक संसर्गिक व्याधि है। जो कि वर्त्म आवरण (श्लेष्माकला) पर लाल रंग की छोटी–छोटी फुंसियों के होने से लक्षित होती है, इनमें कण्डु, शूल और आश्रुस्राव होता है।

**चिकित्साः–**(१) एक से दो ग्राम बृहत् एला चूर्ण, पाँच से दस ग्राम शर्करा के साथ दिन में तीन बार। (२) लघुहरीतकी का शहद के साथ अंजन के रूप में प्रयोग करें।

## अञ्जनामिका

**क्षेत्रीय नामः–** हि०–बिलनी, गोंदनी, मरा०– रांजन वाडी, इं०– स्टाई या स्टाइल।

**लक्षणः–** जलन और तोद युक्त, ताम्रवर्ण की, कोमल, मंदपीड़ा वाली जो सूक्ष्म पिडिकाएँ पलक में होती जाती हैं, उसे अञ्जनामिका कहते हैं।

**चिकित्साः–**(अ) पूयोत्पत्तिपूर्व, निम्नलिखित में से कोई एक योग का प्रयोग पीड़िकाओं पर बाह्य रूप से हो सकता है। (१) रूई को उष्ण जल में भिगोकर और निचोड़ कर उससे सेंक करना चाहिए। (२) प्रभावित भाग पर बेर की पत्ती से घर्षण करना चाहिए। (ब) यदि पूयोत्पत्ति बन्द हो तो उसे दबाकर निकाल दें और व्रणवत् उपचार करें।

## पक्ष्मसात

वर्त्मपक्ष्म का गिरना जिसमें खुजली और जलन होती है, इस अवस्था को पक्ष्मसात कहते हैं।

**चिकित्साः–** (१) त्रिफला क्वाथ २० मि०लि० में स्फटिका एक ग्राम और कर्पूर एक ग्राम मिलाकर, नेत्र प्रक्षालन करें। (२) ताम्रपात्र में पुष्प कासीस को कुछ दिन के लिए रखें, तुलसी पत्र स्वरस मिलावें तथा पीस कर चूर्ण बना लें, इसे अंजन के रूप में प्रयोग करें।

## नक्तान्ध्य एवं नकुलान्ध

**लक्षणः–** **नक्तान्ध्य**– यह रोग कफ दोष के दूषित होने से होता है, जिसमें रोगी रात में देखने में असमर्थ होता है, लेकिन दिन के प्रकाश में भली–भाँति देख सकता है।

**नकुलान्ध्यः–** यह नक्तान्ध्य का एक प्रकार है, जिसमें रोगी दिन में विचित्र रूपों को देखता है और उसकी दृष्टि नेवले के समान चमकती है।

**चिकित्सा**:–(१) अगस्त्य पत्र स्वरस १४ मि०लि० या इसका कल्क १२ से २४ ग्राम को १० ग्राम घी में भून कर दिन में दो बार लेना चाहिए। (२) जीवन्ती पत्र को घी में भून कर ६ से १२ ग्राम की मात्रा में दिन में तीन बार लेना चाहिए। (३)दृष्टि दौर्बल्य के लिए वर्णित औषधियों को, नक्तान्ध्य के रोगियों को दिया जा सकता है।

**बाह्य प्रयोग**

**(अ)अंजनः**–(१) समुद्र फेन एक ग्राम, नारी दुग्ध और शहद पाँच ग्राम का अंजन दिन में दो बार प्रयोग करना चाहिए।

**आश्च्योतनः**– यष्ठिमधु के मूल के सूक्ष्म चूर्ण की पोट्टलिका बना लें, इसे कुब्जक (सफेद गुलाब) के पुष्प स्वरस में डुबोकर पोट्टलिका से कुछ बूंदें नेत्र में टपकायें।

**(स) लेपः**–(१) हरीतकी फल त्वक् को घी में भूनकर और इसे जल में मिलाकर लेप के रूप में नेत्र पर प्रयोग करें। (२)भूम्यामली का सैन्धव लवण और कांजी के साथ ताम्रपत्र में, लेप बनाकर नेत्र पर प्रयोग करें।

**दिवान्ध्य**

**क्षेत्रीय नामः**– हि०–दिनोधि, मरा०–दिवन्धले, इं०–डे बलाइन्डनेस।

**लक्षणः**– दिवान्ध्य रोग में रोगी सभी पदार्थों को पीला देखता है या दिन में देखने में असमर्थ होता है। लेकिन रात्रि में सभी वस्तुओं को स्पष्ट देखता है।

**सामान्य योग–चिकित्साः**– त्रिफला क्वाथ में सिद्ध घी १२–२४ ग्राम की मात्रा में, १५० मि०लि० ऊष्ण जल के साथ दिन में तीन बार लेना चाहिए।

**बाह्य प्रयोगः**–(१) कपित्थ पत्र और पुष्प वृन्त चूर्ण को शहद में मिलाकर नेत्र में अंजन के रूप में प्रयोग करना चाहिए।

**सव्रण शुक्ल एवं अव्रण शुक्ल**

**क्षेत्रीय नामः**–हि०– फूल, मरा०–सव्रण शुक्ल, इं०– एडेरेन्ट ल्यूकोमा।

**लक्षणः**– (१) सव्रण शुक्ल– कृष्ण भाग में जो किंचित् गहरा गहराई में स्थित कठिनाई से दिखाई देने वाला व्रण जिससे ऊष्ण स्राव निकलता है, उसे सव्रण शुक्ल कहते हैं। (२) अव्रण शुक्ल– कृष्ण मण्डल में नेत्राभिष्यन्द या व्रण के कारण दाहयुक्त श्वेत वर्षा का भिन्न–भिन्न मोटाई का धब्बा पड़ जाता है। जिसके कारण रोगी की दृष्टि विषम हो जाती है और वह वस्तु को बादल से आवृत जैसा देखता है, इस दशा को अव्रण शुक्ल कहते हैं।

**चिकित्साः**–(१) निशोथ मूल त्वक् का क्वाथ ७–१४ मि०लि०, १२–२४ ग्राम घी से दिन में तीन बार लेना चाहिए। (२)अंजन– सेंधव लवण के सूक्ष्म चूर्ण को नेत्र में दिन में तीन बार अंजन के रूप में प्रयोग करें। (३) मूंग(छिलका सहित दाल) और शंख नाभि के समभाग सूक्ष्म चूर्ण को शहद के साथ घोंटकर नेत्रांजन के रूप में प्रयोग करें। (४) विभीतक के छिलके रहित बीज को शहद में घोंटकर नेत्र में अंजन के रूप में प्रयोग करें।

**बाह्य प्रयोगः**–(१) लोध्र त्वक् के कल्क की पोट्टलिका बनाकर इसे गर्म जल में डालकर नेत्र का सेंक करें। (२) यष्टीमधु, सारिवा का तना और लोध्र छाल का क्वाथ बनाकर इससे नेत्रों को सेकें। (३) कमल सिद्ध जल को नेत्र बिन्दु के रूप में नेत्र में टपकाएँ।

## दृष्टि दौर्बल्य

**क्षेत्रीय नामः**–हि०– निगाह की कमी, मरा०–दृष्टि मन्द होने, इं०– वीक आई साइट।

**लक्षणः**– धुंधला दिखाई देना, रोगी की दृष्टि आँख के सामने कल्पित रूपों को देखती है। जैसे–मक्खी, मच्छर तथा मकड़ी आदि के जाले दिखाई देना, गोलाकार वस्तुओं, विविध प्रकार की चमक और उसकी आँख के सामने वस्तुएँ धुंधली(बाद से ढकी हुई जैसी) दिखना आदि प्रारम्भिक लक्षण हैं। रोग के और अधिक बढ़ने से रोगी दूरस्थ वस्तुओं को समीप, समीपस्थ वस्तुओं को दूर देखता है। दृष्टि का पैनापन खत्म हो जाता है। जैसे रोगी सूचिका छिद्र में धागे को नहीं पिरो सकता, ये दृष्टिमांद्य के सामान्य लक्षण हैं।

**चिकित्साः**– (१) बकुल स्वरस को ७–१४ मि०लि० की मात्रा में शहद के साथ लेना चाहिए। (२) त्रिफला क्वाथ १४–२८ मि०लि०, ५–१० ग्राम घी के साथ दिन में तीन बार लेना चाहिए। (३) पुनर्नवामूल का घी में अंजन बनाकर नेत्र में दिन में दो बार प्रयोग करना चाहिए। (४) त्रिफला चूर्ण–२–६ ग्राम, १२–२४ ग्राम शहद से दिन में तीन बार लेना चाहिए। (५) त्रिफला घृत– १२–२४ ग्राम, त्रिफला और यष्टिमधु मूलचूर्ण के साथ शहद में मिलाकर दिन में दो बार लेना चाहिए।

## तिमिर

**क्षेत्रीय नामः**– हि०– मोतियाबिन्द, मरा०– दृष्टि दोष, मोतीबिन्दु, अं०– कट्रक्ट।

**लक्षणः**– कांच की अंशतः या पूर्ण अपारदर्शिता को तिमिर कहते हैं। इसकी प्रारम्भिक अवस्था में रोगी की दृष्टि क्षीण हो जाती है और वह वास्तविक वस्तुओं जैसे कि मकड़ी आदि के जाले देखता है। रोग के बढ़ने के साथ दृष्टि क्षीणता भी बढ़ती जाती है। अन्त में पूर्णरूप से दृष्टि ह्रास हो सकता है।

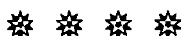
**चिकित्साः**–(१) त्रिफला चूर्ण ६–१२ ग्राम, १२–२४ ग्राम घी के साथ दिन में तीन बार लेना चाहिए। (२) त्रिफला चूर्ण एवं यष्टीमधु मूल के समभाग चूर्ण को तीन से छः ग्राम मधु या घृत के साथ दिन में दो बार लेना चाहिए।

**बाह्य प्रयोगः**– (१)आमलकी फल स्वरस एक लीटर लें, सान्द्र कर लें और ५० ग्राम घृत तथा ५० ग्राम मधु मिला लें, इसका नेत्र में प्रयोग करना चाहिए। (२) मुख में शीतल जल का कवल धारण करना चाहिए। (३) शीतल जल या त्रिफला क्वाथ से नेत्रप्रक्षालन करना चाहिए।

**पथ्यः**– यव, शालि, मूंग, तिक्त द्रव्य, पुराना घृत, कर्पूर, चन्दन, नारीदुग्ध का अंजन, नेत्र रोगी के लिए उपयोगी वस्तु है।

**अपथ्यः**–विदाही, तीक्ष्ण और कटु आहार, ऊष्ण और गुरुद्रव्य, अंकुरित अन्न, तैल से बनी वस्तुएँ, दही, अम्ल, लवण, मछली, मांस और मद्य, बेर पत्र, तरबूज ये नेत्र रोगियों के लिए हानिकारक हैं।

दमन, निद्रा, प्राकृतिक वेगों का अवरोध, चिन्ता, मैथुन, अश्रुरोध, सूक्ष्म और प्रकाश को देखना, धूल, धूम, अतिमार्ग गमन, रात्रि में देर से भोजन करना आदि से बचना चाहिए।



# ॥ चतुर्दशोऽध्यायः ॥
# कर्णरोग

**क्षेत्रीय नामः–** हि०–कान के रोग, मरा०– कान चे रोग, इं०–ईयर डिसीज।

कान के सामान्य रोगों के लक्षण एवं चिकित्सा।

## बाधिर्य

**क्षेत्रीय नामः**–हि०–बहरापन, मरा०–भिरेपण, इं०– डीफ नैस, गु०– बेरापणु।

दूषित वायु शब्दवह स्रोतस् को प्रभावित कर बधिरता या श्रवण शक्ति का ह्रास कर देता है, जिसे बाधिर्य कहा जाता है।

**चिकित्साः–** कर्णबिन्दु प्रयोग–(१) अपमार्ग क्षार तैल– दिन में दो बार, दो से चार बिन्दु। (२) बिल्व तैल – दिन में दो बार, दो से चार बिन्दु डालें। (३) दशमूल तैल– दिन में दो बार, दो से चार बिन्दु कान में डालना चाहिए।

## कर्णशूल

**क्षेत्रीय नामः**–हि०– कान का दर्द, मरा०–कर्णशूल, कान धुकाने, गु०– कानदुखावो, इं०– ईयरेक।

दूषित वायु का कर्ण प्रदेश में अनावश्यक रूप में बढ़ जाना कर्णशूल पैदा करता है। अतः इस रोग को कर्णशूल कहा जाता है।

**चिकित्साः**–(१) कर्णबिन्दु प्रयोग– ताजा आर्द्रक स्वरस दिन में दो बार दो से चार बूंद कान में डालनी चाहिए। (२) सुदर्शन पत्र स्वरस गर्म कर दो से चार बूंद कान में दो बार डालना चाहिए। (३) ताजा आर्द्रक रस चार मि०लि०, मधु दो ग्राम, सेन्धव छः ग्राम, तिल दो मि०ली०या, लेकर गर्म कर दो से तीन बूंद की मात्रा में दिन में दो बार व्याधित कान में डालना चाहिए।

**मिश्रित योगः**–(१) बिल्व तैल या कर्णबिन्दु तैल दिन में दो बार, दो से चार बूंद की मात्रा में कान में डालना चाहिए।

## कर्णपाक

**क्षेत्रीय नामः–** हि०–कानपकना, मरा०–कानातन पयेणे, कान फुटणे, इं०– सेप्सिस इन दि ईयर।

**लक्षणः–** दूषित पित्त कान में विद्रधि का निर्माण करता है, जिससे पूय(मवाद) बन जाती है। इस स्थिति को कर्णपाक कहा जाता है।

**कर्णबिन्दु प्रयोगः–** (१) २०० मि०लि० सरसों के तेल में ताजा हरिद्रा के मूल का स्वरस ५०मि०लि० डालकर तेलपाक पद्धति से तेल सिद्ध कर लें तथा इसको दिन में दो बार दो से चार बूँद की मात्रा में कान में डालना चाहिए। (२) स्फटिक का चूर्ण–१२ ग्राम की मात्रा में कान में बुरका कर दो से चार बूंद नारीक्षीर दिन में दो बार डालनी चाहिए।

**स्थानिक प्रयोगः–** कान को ताजा कच्चे दुग्ध (बिना उबाले) से धोना चाहिए।

## कर्णस्राव

**क्षेत्रीय नामः–** हि०–कान बहना, गु०– कानमाथी, पायु मदावो, मरा०– कानातुंपानी याणे, इं०– आटोर्रिह्या।

**चिकित्साः–** (१) दो से चार बूंद की मात्रा में गौमूत्र दिन में दो बार कान में डालना चाहिए। (२) जावित्री के ताजारस चार भाग में एक भाग मधु मिलाकर, इसे दो से चार बूंद दिन में दो बार कान में डालना चाहिए। (३) समुद्र फेन– एक भाग, नारियल तेल चार भाग लेकर मिला लें, इसकी दिन में दो बार, दो से चार बूंद की मात्रा कान में डालनी चाहिए। (४) हरिद्रा कन्द से साधित तेल २४ ग्राम, शुद्ध गन्धक २४ ग्राम, धत्तूर पत्ररस ४४८ मि०ली० तथा सरसों का तैल ४४८ मि०ली० मिलाकर दो से चार बूंद कान में दिन में दो बार डालनी चाहिए।

## कर्णक्ष्वेड

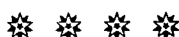
**क्षेत्रीय नामः–** हि०–कान में सीटी बजना, मरा०–कर्णनाद, इं०–टिनिटस।

बंशी या सीटी बजने सी विशेष आवाजें कान के जिस रोग में सुनाई देती हो, उसे कर्णक्ष्वेड कहते हैं।

**चिकित्साः–** दो से चार बूंद सरसों के तैल को कदुष्ण कर कान में दिन में दो बार डालें।

**मिश्रितयोग–**(१) बिल्वादि तैल–दिन में दो बार दो से चार बूंद कान में डालनी चाहिए। (२) हिंग्वादि तैल दो से चार बूंदें कान में दिन में दो बार डालनी चाहिए। (३) क्षार तैल दिन में दो बार, दो से चार बूंद कान में डालनी चाहिए।

**पथ्यः–** गेहूँ, शालिचावल, मूंग की दाल एवं मूंग, पुराणघृत, पटोल, कर्णक्ष्वेड के रोगियों के लिए लाभप्रद होते हैं।



# ॥ पंचदशोऽध्यायः॥
# नासा रोग

**क्षेत्रीय नामः–** हि०–नाक के रोग, बं०–नासारोग, गु०– नाक ना रोग, मरा०– नाकाचे रोग, इं०–डिसीसेज आफ दि नोज।

## प्रतिश्याय

**क्षेत्रिय नामः–** हि०–सर्दी, जुकाम, गु०– सर्दी, मरा०–सर्दी, इं०–कोराइजा, कामन कोल्ड।

**प्रतिश्याय के कारणः–** वेगों को रोकना, अजीर्ण, धूलि सेवन, अत्यधिक बोलना, क्रोध, ऋतुओं की विषमता सिर को कष्ट पहुँचाने वाला, धूमसदृश कारण,
रात्रिजागरण, दिन में सोना, अत्यधिक मैथुन, भाप और धूम का सेवन, इन कारणों से घनीभूत श्लेष्मा के स्थान सिर में वायु प्रकुपित होकर प्रतिश्याय को उत्पन्न करता है।

**लक्षणः–** छींके आना, सिर में गुरुता(भारीपन), शरीर में जकड़ाहट एवं पीड़ा ये प्रतिश्याय के पूर्व लक्षण हैं। वातिक, पैत्तिक, कफज, सन्निपातज प्रकार के प्रतिश्याय के विशिष्ट लक्षण निम्नवत् हैं–

**वातिक प्रतिश्यायः–** नासा शोथ के कारण नासिका में अवरोध होता है, उससे पतला स्राव निकलता है, छींक बहुत आती है, स्वर में उपधात होता है और गलतालु, होंठ सूखतें हैं, ये वातिक प्रतिश्याय के लक्षण हैं।

**पैत्तिक प्रतिश्यायः–** पैत्तिक प्रतिश्याय के मुख्य लक्षण में नासिका से गर्म और पीला स्राव निकलता है और रोगी को ऊष्णता की प्रतीति होती है।

**कफज प्रतिश्यायः–** कफज प्रतिश्याय के मुख्य लक्षण में नासिका से श्वेत वर्ण शीतल स्राव होता है, सिर भारी हो जाता है।

**सन्निपातिक प्रतिश्यायः–** सन्निपातिक प्रतिश्याय में प्रतिश्याय बार–बार उत्पन्न हो जाता है।

**चिकित्साः–** (१) समप्रमाण में द्राक्षा, मरिच, वासापत्र, दालचीनी त्वक् और यष्टीमधु मूल के क्वाथ १४ से २८ मि०ली० को ५ से १० ग्राम शर्करा के साथ दिन में तीन बार लेनी चाहिए। (२) त्रिभुवन कीर्ति रस– एक से दो वटी, शहद की आवश्यक मात्रा से लेह बनाकर ७–१४ मि०ली० आर्द्रक स्वरस के साथ दिन में दो बार लेना चाहिए।

**बाह्य प्रयोगः–** ६०० मि०ग्रा० शुण्ठी चूर्ण को ५ से १० मि०ली० दूध में घोल तैयार कर नस्य लें, इसकी २ से ४ बूंद नासिका में डालें। यह बन्द (दमघोंटू) नासिका के लिए उपयोगी है।

## पीनस

**क्षेत्रीय नामः—** हि०—पीनस, बं०—सर्दी, मरा०—पडषड,इं०— ओजोन, सायनुसायटिस।

**लक्षणः—** इस रोग की प्रारंभिक अवस्था में सिर में भारीपन, क्षुधानाश (अग्निमांद्य) नासिका से स्राव, स्वरभेद (मंद स्वर) होता है। बाद में नासिका स्राव गाढ़ा हो जाता है और नासा विवर में जम जाता है। गंध एवं स्वाद संज्ञानाश भी हो सकता है।

**चिकित्साः—** (१) ५ ग्राम घी में भूनी आर्द्रक को दिन में दो बार। (२) महालक्ष्मी विलास रस एक से दो बटी, आवश्यक मात्रा में शहद के साथ लेह बनाकर दिन में तीन बार। (३) चित्रक हरीतकी अवलेह— १२—२४ ग्राम, ५० मि०ली ऊष्ण जल से दिन में दो बार। (४) षड्बिन्दु तैल या अणु तैल दो से चार बूँद, तीन से चार बार दिन में नासारन्ध्र में डालें।

**पथ्यः—** लघु आहार, ऊष्ण जल, पटोल, मूली, रसोन और त्रिकटु ये सब प्रतिश्याय और पीनस के रोगियों के लिए आवश्यक वस्तु है।

# ॥ षोड्शोऽध्यायः ॥

# मुख रोग

**क्षेत्रीय नामः—** हि०—मुखरोग, मुखआना, मिनावा, मरा०—तोंदचा विकार, अं०—डिजीजेज आफ दी माउथ। मुख गह्वर में उत्पन्न होने वाली बीमारियाँ मुख रोग हैं, जिसके सात अधिष्ठान हैं। ओष्ठ (ओठ), दन्तमूल(मसूड़े) दन्त, जिह्वा (जीभ), तालु/तलवा), कण्ठ(गला) तथा सम्पूर्ण मुख गुहा(मुख का आन्तरिक भाग) सामान्यतः उत्पन्न होने वाले मुख रोगों के लक्षण व उनकी चिकित्साः—

## ओष्ठ रोग

**लक्षणः—** प्रकुपित दोष के अनुसार औष्ठ कर्कश, खुरदरे, कठिन, स्फुटित अथवा वेदना सहित या वेदना रहित पिड़िकाएँ, ओष्ठें पर दाह एवं पाक के साथ निकल आती हैं।

**चिकित्साः—**(१) खदिरादिवटी— दो से चार गोलियाँ दिन में दो बार प्रयोज्य।

## दन्तमूल रोग

**(क) दन्तपुप्पुटक (गम बोइल):—** दन्त मूल में उत्पन्न पिडिका (फोड़ा) जो तीव्र शोथ के साथ उत्पन्न होता है, उसे दन्त पुप्पुटक कहते हैं।

**चिकित्साः—**(१) त्रिफला गुग्गुल चार से आठ ग्राम कोष्ण(गुनगुने) जल के साथ दिन में दो बार प्रयोग करें।

**बाह्य प्रयोगः–** पंचलवण तथा यवक्षार समभाग लेकर मधु के साथ मिलाकर दन्तमूल पर घर्षण या लेप(मंजन की तरह) करना चाहिए।

**(ख) दन्तवेष्ट(पायरिया) :–** इस रोग में दन्त मूल से पूय तथा रक्त का स्राव होने लगता है, जो एलवियोलर टिश्यू को संक्रमित करता है, जिससे दाँत ढीले हो जाते हैं तथा मुँह से दुर्गन्ध आने लगता है।

**चिकित्साः– बाह्य प्रयोग–** किसी एक को दन्तमूल(मसूड़ों) पर लगाते हैं। (१) शुण्ठी, सर्षप तथा त्रिफला–समभाग जल में मिश्रित कर, मुख प्रक्षालन करें। (२) लोध्र, खदिर काष्ठ, मंजिष्ठा मूल व यष्टिमधु से सिद्ध तैल का प्रयोग करें। (३) सैंधव का दन्त मूल पर मर्दन (मलना) करें।

**(ग) सौषिर(जिंजिवाइटिस) :–** दन्तमूल या मसूड़ों (गम्स) में शोथ, वेदना तथा अति लालास्राव के लक्षणों से युक्त विकृति को सौषिर कहते हैं।

**चिकित्साः–** (१) कायफलचूर्ण– को सुबह, सांय मंजन की भाँति प्रयोग करें। (२) सोंठ, नौसादर मिश्रण का मंजन की भाँति सुबह, सायं प्रयोग करें। (३) अमरूद की पत्ती का चूर्ण बनाकर मसूड़ों पर घर्षण (मर्दन) करें।

## दन्तरोग

**(क) खलिवर्धन(विजडमटूथ) :–** इस अवस्था में १७ से २१ वर्ष की आयु की मध्यावधि में एक अतिरिक्त दाँत निकलता है, जिसमें तीव्र वेदना होती है और दाँत पूर्णतया निकल आने पर शमन हो जाती है। **बाह्य प्रयोगः–** पटोल पत्र, निम्ब त्वक् तथा त्रिफला का क्वाथ करते समय जब आधा शेष रह जाए, तब इससे मुख में गण्डूष का प्रयोग करें।

## (ख) कृमिदन्त

**क्षेत्रीय नामः–** हि०– दाँत में कीड़ा लगना, गु०– दाँत सर्बुण, मरा०– दाँत किडाणे, अं०– केरीज ऑफ दी टीथ।

वात दोष के प्रकोप से दान्तों में खाली स्थान(खोखला) या दन्तखात बन जाते हैं। जिससे दन्तों का क्षय होने लगता है, दाँतों में इस विकृति से शोथ, स्राव, दाँतों का हिलना या ढीलापन तथा तीव्र वेदना होने लगती है।

**चिकित्साः–** किसी योग का गन्डूष प्रयोग करें–

(१) घी में भुनी हींग से दन्त खात का पूरण करें।

(२) लवंग तैल– का दन्तों पर प्रयोग करें।

(३) यवक्षार का जल में घोल (एक ग्राम यवक्षार तथा जल ५० मि०लि०) का प्रयोग करें।

### (ग) दन्तहर्ष

**क्षेत्रीय नामः—** दाँतों में पानी लगना, गु०—दान्तमा कउतारा, मरा०—दान्तशिवा सिवाणो, अं०—सेंसिटिव टूथ।

इस विकृति में दाँत शीत एवं खर तथा अम्ल पदार्थ और तेज हवा को सहन करने योग्य नहीं रहते।

**चिकित्साः— बाह्य प्रयोग—** (१) दशमूल क्वाथ में तिल तैल डालकर मुख में कवल धारण करना चाहिए। (२) बकुलत्वक् चूर्ण में शहद मिलाकर मंजन करना चाहिए।

### (घ) दन्तशर्करा

इस रोग में दाँतों पर विशेषकर दंत, मांस संधि पर कठिन, अघुलनशील मल एकत्रित हो जाता है।

**चिकित्साः—** (१) खदिरादि वटी— एक से दो वटी का चसन करें।

**बाह्य प्रयोगः—**(१) खदिर काष्ठ, त्रिफला, अर्जुन तथा विटखदिर त्वक् के क्वाथ का कवल धारण करें। (२) शुद्ध लाक्षा के चूर्ण को दाँतों पर दिन में कई बार मलना चाहिए।

**पथ्यः—** कटु तथा तिक्त, द्रव्य, कंगुबीज, यव, घृत, शतावरीमूल, पटोल पत्र एवं फल, मूलक, आहार द्रव्य।

**अपथ्यः—** रूक्ष अन्न, अम्ल, गुरु, अभिष्यन्दि द्रव्य, मांस, दधि एवं गुड़, मुख रोग के रोगियों के लिए अहितकर हैं। ब्रश करना, कठोर पदार्थों को चबाना, पेट के सहारे लेटना, दिन में सोना, मछली एवं जंगली जीवों के मांस का त्याग करना चाहिए।

## ॥ सप्तदशोऽध्यायः॥
## कण्ठ एवं गलरोग

**क्षेत्रीय नामः—** हि०— गले की बीमारियाँ, मरा०— कण्ठरोग, गल्याचे रोग, इं०— डिजीजेज ऑफ थ्रोट। गले के सामान्य लक्षण व उपचार का पृथक्—पृथक् रूप में नीचे वर्णन किया जा रहा है—

### स्वरभेद

**क्षेत्रीय नामः—** हि०—गला बैठना, गु०—गडुबसीजवो, मरा०— आवाज फूटने, आवाज बसने, इं०—होर्सनैस। जिस व्याधि में आवाज बैठ जाती है (खर—खर हो जाती हो) उसे स्वरभेद कहते हैं।

**लक्षणः—** आवाज का खर—खरापन, गलदाह, कम व धीरे—धीरे बोलना स्वर भेद के प्रमुख लक्षण होते हैं।

**चिकित्सा– एकौषध प्रयोगः–** (१) मुलेठी की मूल को समय–समय पर चूसते रहना चाहिए। (२) १४–२८ ग्राम मधु चाटकर ऊपर से ५०मि०ली० कुनकुना जल पी लेना चाहिए। (३) पुरानी ईमली फल का चूर्ण एक ग्राम की मात्रा में ४–६ ग्राम मधु के साथ दिन में दो बार लेना चाहिए।

**सामान्य योगः–** (१) यष्टिमधु चूर्ण तीन ग्राम की मात्रा में २५०मि०ली० दुग्ध के अनुपान से दिन में दो बार लेना चाहिए। (२) मरिच चूर्ण एक से तीन ग्राम की मात्रा में ५–१० ग्राम शर्करा के साथ दिन में दो बार लेना चाहिए। (३) उबलते चावल एक भाग, गुड़ एक भाग, ४ भाग पानी, जब पक जाए घी मिलाकर दिन में दो बार लेना चाहिए।

**मिश्रित योगः–** सितोपलादि चूर्ण तीन से छः ग्राम, चार से छः ग्राम मधु या पाँच से दस ग्राम घी के साथ दिन में दो बार लेना चाहिए। (२) खदिरादिवटी– एक गोली चार से छः बार दिन मे चूसने को दें।

**बाह्य प्रयोगः–** कण्ठशूलहर लेप गर्दन के सामने वाले भाग पर लेप लगाना चाहिए।

## गिलायु

**क्षेत्रीय नामः–** हि०–टान्सिल, गु०–काकरबढ़वो, मरा०–गल्याचा रोग, इं०–टान्सिलाइटिस।

गले में छोटे, गोलाकृत, मांसल तन्तु टान्सिल कहलाते हैं। इनमें पैदा होने वाले शोथ को टान्सिलाइटिस कहा गया है।

**लक्षणः–** गले में वेदना व निगरण के समय होने वाला कठिनाई इसके प्रमुख लक्षणों में आते हैं।

**चिकित्साः–** निरन्तर ज्वर के साथ तरुण गिलायु पाक के रोगियों को विशेषज्ञ से चिकित्सा लेनी चाहिए। (१) ६०० मि०ग्रा० फिटकरी, १०० मि०लि० गरम पानी में मिलाकर बार–बार गण्डूष धारण करना चाहिए।

स्वरभेद के प्रसंग में वर्णित चिकित्सा भी इस रोग में लाभप्रद है।

## अधिजिह्विका

**क्षेत्रीय नामः–** हि०– कौआ बढ़ना, गु०– मोढू आवणू, मरा०– जीभेवराजीभायणे, अं०–युवुलाइटिस।

गल जिह्वा मूल के पास संस्थित अधिजिह्वा की रक्तिम, तनाव युक्त सूजन, जिस व्याधि में देखी जाती है, उसे अधिजिह्विका कहा जाता है। यदि इसके साथ अन्य अवयवों में भी सपूय शोथ हो जाए तो विशेषज्ञों को दिखाना चाहिए।

**सामान्य चिकित्सा:–** हरीतकी फल तीन ग्राम के क्वाथ में मरिच एक ग्राम तथा शुद्ध गैरिक एक ग्राम मिलाकर कवल धारण एक मिनट तक करें, इस प्रकार दिन में तीन–चार बार करना चाहिए।

**बाह्यप्रयोग:–** (१)अधिजिह्वा पर शुण्ठी चूर्ण या मरिच चूर्ण या यवक्षार चूर्ण या हरीतकी फल त्वक् चूर्ण या चित्रक चूर्ण या पिप्पली चूर्ण रगड़ना चाहिए।

**मिश्रित योग:–** कालकचूर्ण– एक से तीन ग्राम चूर्ण, चार से छः ग्राम मधु से दिन में दो बार लेना चाहिए।

**गलौघ**

**क्षेत्रीय नाम:–** हि०–गले का गुल्म, मरा०–गल्याचा रोग, इं०– ट्यूमर इन दी थ्रोट।

यह गले की तीव्र प्रदाह युक्त वह दारुण परिस्थिति है, जिसमें अन्न एवं जल मार्ग अवरूद्ध हो जाता है। इसमें तीव्र ज्वर एवं श्वास कष्ट भी होता है। यदि रोग में विषमयता के लक्षण दिखाई दें, तो तत्काल विशेषज्ञ से चिकित्सा लेनी चाहिए।

**चिकित्सा:–** गिलायु एवं स्वर भेद के प्रसंग में वर्णित चिकित्सा गलौघ के रोगी को भी देनी चाहिए।

**पथ्य:–** यव, मुद्ग, कुलत्थ, पटोलफल, मेथीदाने (बीज) ताम्बुल पत्र इस विकार में उपयोगी होते हैं।

## ॥ अष्टदशोऽध्याय:॥
## चर्मरोग के हेतु

विरुद्ध अन्नपान व द्रव और स्नेह बहुल गरिष्ट पदार्थों के सेवन करने वाले, उपस्थित वमन व अन्य वेगों को रोकने वाले, अत्यधिक भोजन करने के उपरान्त व्यायाम करने वाले, अत्यधिक सन्ताप (अग्नि) का सेवन करने वाले, धूप, परिश्रम तथा भय से पीड़ितावस्था में बिना विश्राम किए हुए, ठण्डा पानी सेवन करने वाले, अपक्व पदार्थों का भोजन करने वाले व अध्यशन करने वाले, पञ्चकर्म में कुपथ्य करने वाले, नवीन अन्न, दही, मछली, लवण व अत्यन्त खट्टे पदार्थों का अत्यधिक सेवन करने वाले, उड़द, आलू, मिट्टी के बने पदार्थ, तिल, दूध, तथा गुड़ आदि का एक साथ सेवन करने वाले, भोजन का परिपाक न होने पर भी मैथुन करने व दिन में सोने वाले, ब्राह्मण तथा माता–पिता और आचार्य का तिरस्कार एवं नीचकर्म करने वाले व्यक्तियों में वात–पित्त और कफ ये तीनों

दोष कुपित होकर त्वचा, रक्त, मांस और शरीरस्थ जलीय धातु को दूषित कर त्वक् रोग उत्पन्न करते हैं।

**चर्मरोग**

**क्षेत्रीय नामः—** हि०—चर्मरोग, गु०—खास, मरा०—खरूज, काटडांचे रोग, इं०—डिजीजेज आफ दि स्किन।

सभी सामान्य चर्म रोगों के लक्षण एवं चिकित्सा निम्नलिखित होती है—

**पामा एवं कच्छू**

**क्षेत्रीय नामः—** हि०—खाज, खुजली, मरा०—खरूज, इं०—स्कैबीज।

**लक्षणः—** पाम नामक व्याधि में असंख्य सूक्ष्म पिड़िकाएँ होती हैं, जिनसे स्राव, कण्डू एवं दाह की अनुभूति होती रहती है। यह विशेष रूप से अंगुलि संधियों, अन्तःप्रकोष्ठास्थि, उरुप्रदेश, नितम्ब प्रदेशों में देखी जाती है। यदि संधियों, विशेषकर हाथों और नितम्बों, में हो तो उसे कच्छू कहा जाता है।

**चिकित्साः—** (१) महामजिष्ठादि क्वाथ—१४ से २८ मि०लि० की मात्रा में दिन में तीन बार लेनी चाहिए। (२) गन्धक रसायन— १२० से २५० मि०ग्रा० की मात्रा में ४ से ६ ग्राम मधु या घृत के साथ दिन में तीन बार लेना चाहिए।

**स्थानिक प्रयोगः—** सिन्दूर, मरिच फल समान मात्रा में लेकर भैंस की छाछ से लेप बनाकर व्याधित अवयवों पर स्थानिक रूप में प्रयुक्त करना चाहिए। (२) त्रिफला क्वाथ से व्याधित प्रदेशों को अच्छी तरह से प्रक्षालित करने के पश्चात् गंधक मलहर अच्छी तरह से रगड़ना चाहिए।

**विचर्चिका**

**क्षेत्रीय नामः—** हि०—खुजली, गु०—खरजोण, मरा०—विवर्चिका, इं०—ड्राई एण्ड वीपिंग एग्जिमा।

**लक्षणः—** कृष्ण एवं भूरे रंग के व्रण अनेकानेक समूहों में त्वचा पर दिखाई देते हैं और इनसे अत्यधिक स्राव निकलता रहता है।

**चिकित्सा—बाह्य प्रयोगः—** (१) पिण्डतैल— व्याधित अवयवों पर स्थानिक रूप में लगाना चाहिए। (२) सारिवा चूर्ण आधा चम्मच, अमृता चूर्ण आधा चम्मच, खदिर चूर्ण आधा चम्मच— प्रातः, सायं गौ दुग्ध से।

**अरूंषिका**

**क्षेत्रीय नामः—** हि०—फुन्सी, मरा०— अरूंषिका, खावड़े, गु०— फोधा कोनीकालनुइ, अं०— फुरूंकुलोसिस।

सिरोवल्क में रक्त के दूषित होने से, या जुएँ के संक्रमण से रिसता हुआ या चिकनाई युक्त पपड़ीदार, कईकुल्या युक्त जो अवस्था होती है, उसे अरूंषिका कहते हैं।

**चिकित्साः–** (१) निम्ब क्वाथ से सिर को धोना चाहिए। (२) हरिद्राकन्द, दारूहरिद्रा के तने की छाल, चिरायता के सम्पूर्ण क्षुप, त्रिफला और रक्त चन्दन को सममात्रा में लेकर तिल तैल में, तैलपाक विधि से तैल निर्मित कर सिर में लगाना चाहिए। (३) सारिवा चूर्ण आधा चम्मच, खदिर चूर्ण आधा चम्मच, अमृता चूर्ण आधा चम्मच– प्रातः, सायं गौ दुग्ध से सेवन करें।

## युवान–पिड़िका

**क्षेत्रीय नामः–** मुंहासा, गु०–खिला, मरा०–तारुण्यपिटिका, अं०–अकेनि।

**लक्षणः–** युवाओं में मुख मण्डल पर शाल्मली कण्टकवत् उभार का प्रकट होना युवानपिडिका के नाम से जाना जाता है।

**बाह्य प्रयोगः–** (१) गौदुग्ध में प्रियाल (चिरौंजी) को घिस कर लेप बनाकर मुंहासे पर प्रयोग करना चाहिए। (२) गौदुग्ध में शाल्मली कण्टक का लेप बनाकर मुंहासे पर लेप करना चाहिए। (३) जातीफल को जल में पीसकर मुंहासे पर लेप करना चाहिए। (४) मसूर बीज १२ ग्राम, ५० मि०ली० गौदुग्ध में पीसकर और उसमें १२ ग्राम घृत मिलाकर मुख पर लेप करना चाहिए।

## दद्रु

**क्षेत्रीय नामः–** हि०–दाद, गु०–दाद्रा, मरा०–नायटा, गजकर्ण, अं०–रिंगवर्म।

**लक्षणः–** त्वचा पर ताम्रवर्ण की गोलाकार पिड़िकाओं का उत्पादन होना एवं कण्डू युक्त अवस्था को दद्रु कहते हैं।

**चिकित्साः–** (१) हरिद्राकन्द चूर्ण एक ग्राम को गौमूत्र १०० मि०ली० में मिलाकर दिन में तीन बार सेवन करना चाहिए।

**बाह्य प्रयोगः–** (१) दुर्वाघास के सम्पूर्ण अंग, हरीतकी त्वक्, सैंधव लवण, चक्रमर्द बीज और तुलसी पत्र को समभाग में लेकर तक्र में पीस कर लेप बनाकर दद्रु पर लेप करना चाहिए। (२) मंजिष्ठा, त्रिफला, लाक्षा, हरिद्राकन्द और गंधक का समभाग लेकर सर्षप तैल के द्विगुण प्रमाण में पीसकर लेप बनाकर दद्रु पर लगाना चाहिए।

## पाददारी

**क्षेत्रीय नामः–** हि०– खामरा, बिवाई, गु०–पागफाटवा, मरा०–पाददारी, अं०–चाफेड सोलस्।

**लक्षणः–** पैर के पाद तल या अंगुठे के मूल में अत्यधिक चलने–फिरने या वायु के प्रकोप से त्वक् में वेदना युक्त दरार के प्रकट होने की अवस्था पाददारी के रूप में जानी जाती है।

**बाह्य प्रयोगः**–(१) तिल तैल लगाकर प्रभावित भाग की सिकाई करनी चाहिए। (२) घृत १२ ग्राम, मोम–१२ ग्राम को ४ ग्राम यवक्षार में मिलाकर प्रभावित भाग पर लेप करना चाहिए।

## अहिपूतना

**क्षेत्रीय नामः**– हि०–चूना लगना, ललाई पड़ना, मरा–गुदकच्छू, अं०–इरीदिमा, नैपकीनरेश, सोरबटकस्।

**लक्षण**– गन्दगी के कारण शिशुओं के गुदा प्रदेश पर खुजली शुरू होती है, जो कि कण्डू युक्त दरारें या स्रावी फुसिंयों में बदल जाती है, इस दशा को अहिपूतना कहते हैं।

**चिकित्साः**– स्वच्छता को सुनिश्चित करना चाहिए और पुनः–पुनः या जब कभी आवश्यकता हो छोटी तौलिया (नैपकीन) बदलते रहना चाहिए।

**सामान्य योगः**– (१) लताकरंज, त्रिफला, पटोल फल को समभाग लेकर घृत सिद्ध कर एक से तीन ग्राम प्रातः, दोपहर, सायं तीन बार लेना चाहिए।

(२) **बाह्य प्रयोगः**– (१) प्रभावित भाग को ऊष्ण जल या ऊष्ण त्रिफलाक्काथ या हरिद्राकन्द क्काथ या बब्बूल छाल क्काथ या उदुम्बर त्वक् क्काथ या खदिर त्वक् क्काथ से धोना चाहिए।

## वृषणकच्छू

**क्षेत्रीय नामः**– बं०–बृषणकच्छू, मरा०–बृषणकच्छू, अं०–एक्जिमा ऑफ दी स्क्रोटम।

वृषण कोष की अस्वच्छता एवं आर्द्रता के कारण कण्डू उत्पन्न होती है, जो कि श्राव युक्त फुंसियों में परिवर्तित हो सकती है, इस स्थिति को वृषण कच्छू कहते हैं।

**चिकित्साः**– प्रभावित अंग की सम्पूर्ण स्वच्छता आवश्यक है।

**बाह्य प्रयोगः**– (१) हिंगु, खदिरत्वक् और निम्ब पत्र को समभाग में लेकर उसका लेप बनाकर आक्रान्त भाग पर लेप करना चाहिए। (२) आक्रान्त प्रदेश पर समभाग में लिये गये निम्बत्वक् चूर्ण और त्रिफला के चूर्ण का छिड़काव करना चाहिए। (३) आक्रान्त भाग को त्रिफलाक्काथ या निम्ब पत्र क्काथ या निम्ब साबुन से धोना चाहिए।

## चिप्प एवं कुनख

**क्षेत्रीय नामः**– हि०–नाखून का फोड़ा, गु०–चफुटुना, मरा०–नाखूरने, नाखूकुनख, अं०–ओनिकिया।

(१) **चिप्पः**– यह नखमूल का तीव्र शोथ है, जिसमें नखमूल में पाक, जलन और पीड़ा होती है।

(२) **कुनखः**– यदि नखमूल का शोथ मन्द प्रकृति(मध्यम) हुआ, तब यह शोथ नख को सुकुमार या भंगुर बना देता है, इस दशा को कुनख कहते हैं।

**चिकित्साः**– (१) खदिरारिष्ट– १४ से २८ मि०लि० भोजनोपरान्त समान भाग जल से दिन में दो बार दें। (२) सारिवाद्यासव– १४ से २८ मि०ली० भोजनोपरांत समभाग जल से दिन में दो बार दें।
(३) आरोग्यवर्धिनीवटी– २५० मि०ग्रा० से ५०० मि०ग्रा०, चार से छः ग्रा० मधु से दिन में दो बार दें।

**बाह्य प्रयोगः**– (१) अर्द्धभाग सिन्दूर मिले पिघले हुए मधुमक्खी के मोम में अंगुली को डुबोना चाहिए। सभी प्रकार के त्वक् रोगों के लिए बाह्य प्रयोगः– (१) निम्ब बीज तेल का प्रभावित अंग पर लेप करना चाहिए। (२) दशांग लेप– यह विशेष रूप से त्वक् रोगों की शोथ युक्त दशा में उपयोगी है। (३) गंधक मलहर– इसे प्रभावित भाग पर लेप करना चाहिए। (४) वृहत् मरिच्यादितैल– इसे प्रभावित भाग पर लेप के रूप में लगाना चाहिए। (५) गंधक द्रूतिलेप– आक्रान्त भाग पर लेप करें।

**पथ्य एवं अपथ्यः**– कुष्ठ रोग में जो पथ्यापथ्य बताए गये हैं, उसी का पालन त्वक् रोगों से ग्रस्त रोगियों को करना चाहिए।

## ॥ ऊनविंशोऽध्यायः ॥
## संक्रामक रोग या औपसर्गिक रोग

**प्रसंगाद् गात्र संस्पर्शान्निःश्वासात्सहभोजनात्।**
**सहशय्यासनाच्चापि वस्त्रमाल्यानुलेपनात्॥**
**कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एव च।**
**औपसर्गिक रोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरम्॥**
(सुश्रुत नि.५/३२–३३)

मैथुन, अंगस्पर्श, निःश्वास, सहभोजन, साथ में शयन एवं बैठने, वस्त्रमाला और अनुलेपन द्वारा कुष्ठ (चर्मरोग) ज्वर, शोष, नेत्राभिष्यन्द और औपसर्गिक (गर्मी, सूजाक आदि) रोग मनुष्य से मनुष्य में संक्रमित होते हैं।

आजकल काल आदि के परिणाम के कारण जितने संक्रामक रोग प्रसरित होते हुए दिखाई पड़ते हैं, उतने पहले नहीं थे। इसलिए प्राचीन आयुर्वेद

में अत्यन्त संक्षिप्त वर्णन मिलता है। इसमें कोई संदेह नहीं, कि अनेक रोग ऐसे हैं जो मनुष्य से मनुष्य एवं पशुओं से मनुष्यों में संक्रमण करते हैं।

यह संक्रमण जीवाणुओं की स्थिति पर निर्भर है। जीवाणु–प्राणी के शरीर के भीतर तथा बाहर अपना जीवन बिताते हैं। वे जब प्राणि शरीर के भीतर प्रविष्ट होते हैं, तब वहाँ पल कर असंख्य हो जाते हैं और विष उत्पन्न करते हैं। वह विष प्रत्येक रोगों में विभिन्न प्रकार एवं विभिन्न लक्षण वाला होता है। यह विष कुछ रोगों में एकांग में एवं कई रोगों में सारे शरीर में फैलता है। ये जीवाणु अथवा उनके विष रोगियों के मलमूत्र और पसीने आदि के द्वारा बाहर निकलकर स्वस्थ मनुष्यों में संक्रमण करते है।

जो मनुष्य या प्राणी किसी विशेष संक्रामक रोग से पीड़ित है, उसके रक्त और लसीका में उस व्याधि के विशिष्ट जीवाणु प्राप्त होते हैं। यदि वे उस शरीर से बाहर उचित भोजन आदि के प्रबन्ध से सुरक्षित कर और बढ़ाकर किसी स्वस्थ प्राणी के शरीर में प्रविष्ट करा दिए जाएँ, तो उस प्राणी में वही रोग उत्पन्न होता है, जिसके कि वह जीवाणु है।

शरीर में जीवाणु प्रवेश क्षण से प्रारम्भ कर विशेष रोग के लक्षण की उत्पत्ति तक जो समय होता है, वही सम्प्राप्ति काल कहा जाता है। यह भिन्न–भिन्न रोगों में विभिन्न प्रकार का होता है। इस अवस्था में रोगी मनुष्य, स्वस्थ मनुष्य के लिए भयास्पद होता है।

| रोग नाम | सम्प्राप्तिकाल | उपसर्जनकाल |
|---|---|---|
| विसूचिका | २४ घण्टे से ५ दिन पर्यन्त | २ सप्ताह |
| आंत्रिकज्वर | ५ दिन से २० दिन पर्यन्त | ६ सप्ताह |
| ग्रंथिकज्वर | ३ से१०दिन से २० दिन पर्यन्त | ३ सप्ताह |
| शीतला | १२ दिन से २० दिन पर्यन्त | ६ सप्ताह |
| श्लैष्मकसन्निपात | १–४ दिन से २० दिन पर्यन्त | २ सप्ताह |

रोग शान्ति के क्षण से रोगी, जितने समय तक स्वस्थ्य मनुष्यों में वही रोग उत्पन्न कर सकता है, उतने समय को उपसर्जन काल कहते हैं। जैसे–

| रोग नाम | सम्प्राप्तिकाल | उपर्सजनकाल |
|---|---|---|
| विसूचिका | १ घण्टा से ५ दिन तक | २ सप्ताह |
| आन्त्रिकज्वर | ५ दिन से १० दिन तक | ६ सप्ताह |
| ग्रंथिकज्वर | ३ दिन से १० दिन तक | ३ सप्ताह |
| शीतला | १२ दिन | ६ सप्ताह |
| श्लैष्मकसन्निपात | १ दिन से ४ दिन तक | २ सप्ताह |

## संक्रमण प्रकार

**(१) खाद्यपेय आदि के द्वारा:–** आन्त्रिक ज्वर, विसूचिका और अतिसार।

**(२) वायुद्वारा:–** मसूरिका, रोमान्तिका, यक्ष्मा और श्लैष्मक ज्वर।

**(३) साक्षात् संबंध से:–** जल संत्रास, (पागल कुत्ता आदि के काटने से उत्पन्न रोग), धनुस्तम्भ (टिटनस), उपदंश, एड्स आदि।

**पिपीलिका (चींटी द्वारा):–** अतिसार, विसूचिका, आन्त्रिक ज्वर।

**खटमल द्वारा:–** कुष्ठ, कालाजार और त्वचा के रोग।

**क्षुद्र पतंग (पिस्सू):–** वातालिका (प्लेग)।

**मक्खी द्वारा:–** अतिसार, प्रवाहिका, विसूचिका, आन्त्रिक ज्वर और नेत्राभिष्यन्द।

**दंशमशक द्वारा:–** विषमज्वर।

**जूं द्वारा:–** आवर्तक ज्वर।

## संक्रमण प्रतिषेधोपाया:

महामारी के समय में अविकृत औषधियों एवं जल का उपयोग करना चाहिए। स्थान त्याग, शान्तिकर्म, प्रायश्चित, मंगल, जल, होम, उपहार, यज्ञ, देवताओं को हाथ जोड़कर नमस्कार, तप, नियम, दया, दान, दीक्षा आदि करने से और देवता, ब्राह्मण और गुरु के पूजन से कल्याणकारी होता है।

### (१) घोषणा

यदि कोई मनुष्य संक्रामक रोग से पीड़ित हो अथवा किसी की मृत्यु हो जाय तो तुरन्त स्थानीय स्वास्थ्य विभाग के अध्यक्ष (हेल्थ आफिसर) को इसकी सूचना देनी चाहिए, जिससे वह शीघ्र संक्रमण के भय को दूर कर सके।

संक्रामक रोग से पीड़ितों को अलग रखना, संक्रमण रोकने के लिए सर्वश्रेष्ठ उपाय है। इसके लिए दो प्रकार के उपाय का सहारा लेना चाहिए।

### (२) पृथक्करण

**(अ) निवास गृह में ही अलग रखना। इसके लिए निम्नलिखित नियम पालन करने चाहिए।** (१) यथाशक्ति घर की ऊपरी मंजिल में रोगी को रखना चाहिए। (२)रोगी के कमरे में अनावश्यक वस्तुएँ कभी नहीं रखनी चाहिए। (३) उसमें खिड़कियाँ खुली हों। (४) द्वार की खिड़कियों पर किसी क्रिमिघ्न पदार्थ से युक्त परदा डाल देना चाहिए। (५) रोगी के परिचारक के अलावा दूसरे किसी को वहाँ नहीं जाना चाहिए। कार्य करने के बाद हाथ– पैर को कृमिघ्न द्रव से अच्छी तरह धोकर दूसरा वस्त्र पहनकर परिचारक को वहाँ से बाहर जाना चाहिए।

(६) रोगी के कमरे से वस्त्र और बर्तन आदि कृमिघ्न पदार्थों से शुद्ध कर बाहर ले जाना चाहिए। (७) रोगी के मल–मूत्र और थूक को कृमिघ्न द्रवयुक्त पात्र में फेंकना चाहिए।

**(आ) चिकित्सालय में अलग रखनाः–** यह चिकित्सालय शहर के बाहर एकान्त में हो। वहाँ प्रत्येक संक्रामक रोग के लिए अलग– अलग घर बनाना चाहिए। जो रोग सन्देहयुक्त हो, उसके लिए अलग ही घर होना चाहिए। प्रत्येक रोगी को पर्याप्त स्थान देने का अच्छा प्रबन्ध करना चाहिए। चिकित्सालय में रोगियों को लाने के लिए सुखदायक तेज सवारी(एम्बुलेंस कार) आवश्यक है। यथा शक्ति प्रत्येक रोग के लिए अलग– अलग सवारी का प्रबन्ध करना चाहिए। रोगी को अस्पताल में लाने के बाद उस सवारी को कृमिघ्न द्रव से धो डालना चाहिए। रोगी के दूषित वस्त्र और मल आदि जला डालना चाहिए या सम्भव हो तो कृमिघ्न द्रव से शुद्ध करना चाहिए।

**(३) उपदेशः**

संक्रामक रोग प्रसार के प्रारंभिक अवस्था में ही स्वास्थ्य विभाग के अध्यक्ष द्वारा उपदेशप्रद (नोटिसें) उस प्रान्त की भाषा में छपवाकर बँटवाना चाहिए, जिनमें रोग के संक्रमण से बचने के उपाय, पथ्य और अपथ्य आदि लिखे हों तथा जहाँ– तहाँ सब जगह रोग के विषय में व्याख्यान् कराने चाहिए।

**''जीवाणु विनाशनम्''**

संक्रामक रोग के जीवाणुओं का नाश करने वाले द्रव्य तीन प्रकार के होते हैं– (१) जन्तुघ्न (रक्षोघ्न)– यह जीवाणुओं को मारता है।

(२) जीवाणु प्रतिरोधक– यह जीवाणुओं को और कार्य को रोकता है।

(३) दौर्गन्ध्य नाशक– यह दुर्गन्ध नष्ट करता है।

जीवाणु नाशक द्रव्य दूसरे दृष्टिकोण से पुनः तीन प्रकार के होते हैं–

(१) **प्राकृतिकः–** स्वच्छ वायु और सूर्य की किरणें ये स्वभावतः रोग कारक जीवाणुओं का नाश करते हैं। सूर्यप्रकाश से आन्त्रिकज्वर और यक्ष्मा आदि के जीवाणु थोड़े ही समय में मर जाते हैं।

**''भौतिक जीवाणु विनाशकम्''ः–** यह दहन और स्वेदन भेद से दो प्रकार का होता है– (१) दहन– स्वल्प मूल्य के पदार्थों एवं बेकार वस्तुओं के लिए श्रेष्ठ उपाय है। रोगियों के मल– मूत्र आदि भी जलाये जाते हैं।

(२) स्वेदन– यह शुष्क और आर्द्र भेद से दो प्रकार का होता है–(१) शुष्क स्वेदन–ऊष्मवायु के द्वारा अण्डे सहित जीवाणु नष्ट किये जाते हैं। यह चमड़ा, रबड़ और काँच की वस्तुओं एवं पुस्तकों आदि के लिए श्रेष्ठ है। (२) आर्द्र स्वेदन– क्वथन और वाष्प स्वेद के भेद से दो प्रकार का होता है–

**(क) क्वथन (उबालना):–** सभी प्रकार के जीवाणुओं को नष्ट करने के लिए यह विधि श्रेष्ठ है। कपड़ा, धातु के बर्तनों और लकड़ी से बनी वस्तुओं के लिए बहुत उपयोग में आती है। घर का फर्श आदि भी गरम पानी से धोकर जन्तु रहित किया जाता है। खौलाने के लिए एक घण्टा पर्याप्त है।

**(ख) वाष्पस्वेदः–** यह अत्यन्त विश्वसनीय एवं शीघ्रता करने वाली विधि है। यह प्रायः अक्वथनीय द्रव्यों– रेशमी कपड़े, ऊनी कपड़े, रजाइयों आदि में प्रयुक्त होती है। क्योंकि वाष्प सब जगह प्रविष्ट हो जाती है।

### २. "रासायनिक जीवाणु विनाशनम्"

यह तीन प्रकार का होता है– **शुष्क, द्रवात्मक** और **वायवीय**। जैसे– **शुष्क–** में नया चूना प्रायः पुरीष के जीवाणुओं को नाश करने के लिए प्रयुक्त होता है तथा दीवालों में उपयोगी होता है। १५ किलो बुझा हुआ चूना एक कूँए के जल के जीवाणुओं को नाश करने के लिए पर्याप्त है। **द्रवात्मक–** में पारदद्रव, कर्पूरद्रव, तुलसी, दौना, वन तुलसी, निम्बपत्र आदि से जीवाणु रक्षा के लिए धूपन किया जाता है। **वायवीय–** में गन्धक, निम्बपत्र, कारीजीरी, धूप, राल और लौबान आदि से जीवाणु रक्षा के लिए धूपन किया जाता है।

### ३. "निर्जन्तुकीकरण विधि"

आन्त्रिक ज्वर में मल– मूत्र, विसूचिका में वमन की हुई वस्तु, अतिसार संग्रहणी में पुरीष और यक्ष्मा और फुफ्फुस के विकारों में थूक, कफ, रोमान्तिका, श्लैष्मिक सन्निपात में मासिका और गले के स्राव संक्रमण होते हैं।

इसलिए उन्हें कृमिनाशक द्रवयुक्त किसी अप्रवेश्य पदार्थ चीनी मिट्टी, काँचादि से बने हुए पात्र में डालकर, ढँक कर रखना चाहिए। एक से तीन घण्टे के बीच में जलाशय से दूर पृथ्वी में गड्ढा कर पाट देना चाहिए। यदि लकड़ी का चूरा मिलाकर जला दें, तो और भी अच्छा है।

कपास के सूती वस्त्र कृमिघ्न द्रवों में चार प्रहर तक रखकर फिर आधा घण्टा खौलाने के बाद सुखा कर पहनने चाहिए। पूय और पुरीष से दूषित वस्त्रों को शोधन द्रव्य मिश्रित जल से धोकर फिर पूर्ववत् खौलाना चाहिए। रेशमी वस्त्रों को सूर्य की किरणों में तीन दिन तक रखना चाहिए। खौलाने से वे नष्ट हो जाते हैं।

### शव

संक्रामक रोग से मरने वालों के शवों को श्मशान ले जाने के पूर्व कृमिनाशक द्रव से भीगे वस्त्र से लपेट देना चाहिए।

कृमियुक्त समस्त घर को कृमिनाशक द्रव से धोना चाहिए अथवा कृमिनाशक द्रव्य से धूपित करना चाहिए। इस अवस्था में निर्जन्तुकरण रोग प्रकृति पर निर्भर है। जैसे विसूचिका में मलमूत्र और वमन के विषय में तथा उनसे दूषित पदार्थों पर ध्यान देना चाहिए। प्लेग में चूहा, खटमल और चूहे की मक्खियों, पिस्सुओं के नाश पर एवं विषमज्वर (मलेरिया) में डॉस और मच्छरों के नाश पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

## विसूचिका

**क्षेत्रीय नामः–** हि०– आन्त्रशोथ, गु०– विसूचिका, मरा०– विसूचिका, अं०– गेस्ट्रोएनटेरायटिस।

अचानक तीव्र वमन तथा अतिसार का अन्य सार्वदेहिक लक्षण सहित आरम्भ होना विसूचिका के कारण हो सकते हैं।

इस रोग को उत्पन्न करने वाले विशिष्ट जीवाणु होते हैं, जो शरीर में प्रविष्ट होकर विसूचिका उत्पन्न करते हैं। यह रोग विषतः जल द्वारा फैलता है। ये नदी और कुएँ आदि का जल विसूचिका रोग से पीड़ित लोगों के मल से दूषित होता है। इस प्रकार के जल से धोया हुआ कच्चा शाक आदि खाया जाये तो यह रोग उत्पन्न होता है। मक्खियों द्वारा भी यह रोग फैलता है। ये विसूचिका के रोगियों के मल– मूत्र पर बैठकर, अपने मुँह और पैरों द्वारा जीवाणुओं को लाकर दूध, जल एवं भोजन आदि में डाल देती है, जो इसे सेवन करते हैं, वे विसूचिका से पीड़ित हो जाते हैं।

**आवश्यक सावधानियाँः–** (१) विसूचिका के रोगियों को तुरन्त इसके लिए बने हुए विशिष्ट चिकित्सालय में भेजना चाहिए। (२) रोगी के मल को अच्छी तरह कृमिनाशक द्रव द्वारा कृमि रहित कर पृथ्वी में गाड़ देना चाहिए। जला देना उससे भी श्रेष्ठ है। जो देश विसूचिका से पीड़ित हो उसके जल प्रबन्ध पर विशेष ध्यान देना चाहिए। (३) कुएँ में कृमिनाशक पदार्थ (चूना– पोटैशियम परमैग्नेट आदि) छोड़ना चाहिए। (४) जल को सर्वदा खौलाकर और कपड़े से छानकर पीना चाहिए। सभी प्रकार के भोजन को अच्छी प्रकार पकाकर गरम ही खाना चाहिए। (५) बाजार की मिठाई आदि कभी नहीं खाना चाहिए। क्योंकि बिना ढके हुए पात्रों में रखने के कारण वह मक्खियों द्वारा दूषित होता है। (६) सभी खाद्य पदार्थ ढँक कर रखना चाहिए। दूध भी खौलाकर पीना चाहिए। (७) भोजन के बर्तनों को गरम पानी से धोना चाहिए। (८) वमन विरेचन कारक द्रव्यों का सेवन नहीं करना चाहिए। (९) उपार्जित क्षमता (टीका) प्राप्त करनी

चाहिए। (१०) लालमिरचा, ईख के रस का सिरका और प्याज का सेवन करना चाहिए। कपूर सूँघना विशेष लाभदायक होता है। (११) विसूचिका के प्रसार के समय निम्बपत्र दो भाग, शुद्ध हींग एक भाग, कपूर आधा भाग पानी से घोंटकर एक माशा की गोली बनाकर प्रतिदिन प्रातःकाल सेवन करना चाहिए। (१२) विसूचिका से मरने वालों को आबादी से दूर जलाशय के पास तेज आग पर जलाना चाहिए। असमर्थता में पृथ्वी के चार हाथ गहरे गड्ढे में पाट देना चाहिए।

**लक्षणः–** तीव्र वमन एवं विरेचन का आरम्भ हो जाना, तृष्णा, दाह, उदर शूल, जृम्भण, भ्रम, देह में झटके, त्वचा में विवर्णता कम्पन, हृद्प्रदेश में शूल तथा हथौड़े की चोट लगने के समान शिरःशूल ये विसूचिका के लक्षण हैं।

**चिकित्साः–** (१) लवंग या जातीफल या नारिकेल से निकला हुआ जल या निम्बू स्वरस जल में मिलाकर, अल्पमात्रा में तृष्णा शान्त करने हेतु प्रयोग करें। (२) अपामार्ग मूल कल्क तीन से छः ग्राम पर्याप्त मात्रा में जल के साथ दिन में तीन बार प्रयोग करें।

(३) **मिश्रित योगः–** चित्रकादिवटी २ से ४ गोली का कोष्ण जल के साथ दिन में दो बार प्रयोग करें। (४) शंखवटी– २ से ४ वटी कोष्ण जल से दिन में दो बार प्रयोग करें। (५) अग्निकुमाररस– २ से ४ वटी का कोष्ण जल के साथ दिन में दो बार प्रयोग करें। (६) रामबाण रस–६० से १२० मि०ग्रा० का बिल्व पत्र स्वरस ७ से १४ मि०लि० के साथ दिन में दो बार प्रयोग करें।

**बाह्य प्रयोगः–** (१) त्वक् दालचीनी, तेजपत्र, रास्नामूल, शिग्रु त्वक्, कुष्ठ मूल, वचा, मिश्रेया फल के समभाग का काँजी में निर्मित लेप उदर पर लगावें।

**पथ्य तथा अपथ्यः–** अग्निमांद्य की भाँति ।

## अतिसार

**क्षेत्रीय नामः–** बं– अतिसार, गु०– झाड़ा, जुलाब, हि०– दस्त आना, मरा०– जुलाब, हग्वण, अं०– एक्यूटडायरिया।

अतिसार रोग में रोगी द्रव पुरीष बार– बार त्याग करता है। चिकित्सा की दृष्टि से अतिसार को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है, यथा– आमातिसार एवं पक्वातिसार।

**लक्षणः–** (१) **आमातिसार–** जब अतिसार का रोगी पिच्छिल (चिकना) दुर्गन्धयुक्त मल त्याग करता है, जो पानी में डूब जाता है, तब उसे आमातिसार कहते हैं। (२)**पक्वातिसार–** जब अतिसार का रोगी शरीर का हल्कापन महसूस करें एवं उसका पुरीष पानी में डूबे नहीं, तब उस स्थिति को पक्वातिसार कहा जाता है।

**चिकित्साः–(आमातिसार):–** (१) शुण्ठी (सोंठ) का चूर्ण एक से तीन ग्राम समान मात्रा में चीनी के साथ दिन में दो बार आम के लक्षणों में प्रशमन के लिए लें। (२) भुवनेश्वर रस– एक से दो ग्राम पानी के साथ दिन में दो बार प्रातः एवं सायं लें। (३) रामबाण रस– २५० से ५०० मि०ग्रा० शहद के साथ दिन में दो बार लें।

**पथ्यः–** हल्का भोजन यथा–मूँग का सूप जो सोंठ से सिद्ध किया हुआ हो या १०० से २५० ग्राम चावल, ६ ग्राम घी के साथ सेवन करें।

## पक्वातिसार चिकित्सा

(१) बिल्व (बेल) की फल मज्ञा का चूर्ण ३ से ६ ग्राम, १०० से २५० मि०ली० तक्र (मट्ठे) के साथ मिलाकर दिन में तीन से चार बार दें। (२) कुटज (कौरैया) की छाल या इन्द्रयव (कुटज बीज) का चूर्ण तीन से छः ग्राम, १०० से २५० मि०लि० तक्र के साथ मिलाकर दिन में तीन से चार बार लें।

**सामान्य योगः–** (१) बिल्व फल मज्ञा, बालक (तगर) का कन्द, मुस्तक(मोथे) की जड़, अतिविषा (अतीस), बला (वरियार) एवं कुटज की छाल के मोटे चूर्ण को समान भागों में लेकर क्वाथ बनायें। इसका १४ से २८ मि०लि० की मात्रा में दिन में तीन बार सेवन करें।

## जीर्णातिसार

दीर्घकालिक अतिसार जीर्णातिसार कहा जाता है।

**चिकित्साः–** (१) दाड़िम (अनार) के बीज या धान्यक (धनियां) के फल या घृतभृष्ट हिंगु (भुनी हींग) या जीरा के फल या पाठा (पुरइन पाढ़) का सम्पूर्ण क्षुप या पीप्पली (पीपल) का फल या जड़ सैंधव (सेंधा नमक) या शुण्ठी(सोंठ) या विड लवण या यवानी (अजवाइन) के फल का चूर्ण ५ से १० ग्राम चावल से बनाई विलेपी(खिचड़ी) या मुद्रग यूष के साथ दिन में दो बार लें।

## रक्तातिसार

**क्षेत्रीय नामः–** ब०– रक्ततिसार, हि०–खूनीदस्त, गु०– खूनी आंव, मरा०– रक्तातिसार, रक्ती आंव, अं०– (ब्लड) डिसेन्ट्री।

पैत्तिक अतिसार का रोगी यदि पित्त की और वृद्धि के कारण मल मार्ग से रक्त त्याग करता है एवं ज्वर, जलन, प्यास, ऐंठन, जैसी पीड़ा एवं गुद शोथ जैसे लक्षण से पीड़ित हो जाता है, तो इस स्थिति को रक्तातिसार कहा जाता है।

**चिकित्साः–** (१) बिल्व(बेल) फल मज्ञा का चूर्ण ३ से ६ ग्राम समान मात्रा में गुड़ के साथ दिन में तीन बार लें। (२) आम्र(आम) या अर्जुन या बदरी(बेर) या जम्बू (जामुन) की छाल का चूर्ण ६ ग्राम बराबर मात्रा में शहद में

मिलायें एवं इसे १००– २५० मि०लि० बकरी के दूध के साथ दिन में तीन बार लें। (३) चन्दन दो से छः ग्राम तक लेकर पर्याप्त पानी में चटनी बनायें एवं इसे ४– ६ ग्राम शहद तथा ५– १० ग्राम चीनी के साथ दिन में दो बार लें। (४) रक्त चन्दन (लाल चन्दन) का चूर्ण २– ६ ग्राम शर्करा (चीनी) ५ ग्राम एवं शहद छः ग्राम के साथ लेने के बाद १००– २५० मि०लि० तण्डुलोदक (चावल का धोवन) पीयें। इसे दिन में दो बार लें। (५) त्रिकुट का चूर्ण एक से तीन ग्राम, १००– २५० मि०लि० तक्र या पानी के साथ दिन में एक बार प्रातः लें।

**मिश्रित योगः–** (१) कुटज घनवटी एक से दो वटी दिन में दो या तीन बार पानी के साथ लें।

## आन्त्रशोथज

**क्षेत्रीय नामः–** बं०–आन्त्रशोथज, गु०– कफजमरद, हि०– श्लैष्मिक पेचिश, मरा०– आन्त्रशोथज अतिसार, अं०– डायरिया ड्यू टू कोलाइटिस।

**चिकित्साः–** सामान्य योग– (१) जातीफल (जायफल), जीरक (जीरा) का फल एवं बिल्व फल मज्जा समान भागों में लेकर चूर्ण करें। इसे तीन से छः ग्राम की मात्रा में १४–२८ मि०ली० चूर्णोदक (चूने का पानी) के साथ दिन में दो बार प्रातः एवं सायं लें। (२) पुनर्नवा (सम्पूर्णपादप) इन्द्र जौ, पाठामूल, अतीस, मुस्तक (मोथा), वचा (वच) की जड़ एवं बिल्व फल मज्जा समान मात्रा में लेकर काढ़ा बनाकर १४– २८ मि०लि० की मात्रा में एक ग्राम काली मिर्च का चूर्ण मिलाकर प्रातः काल एक मात्रा नित्य दें।

## ज्वरातिसार

**क्षेत्रीय नामः–** बं०– ज्वरातिसार, अं०– डायरिया विथफीवर।

ज्वरातिसार में अतिसार के लक्षणों के साथ रोगी को विभिन्न अंशों में ज्वर भी रहता है।

**चिकित्साः–** (१) दशमूल क्वाथ–१४–२८ मि०ली०, एक ग्राम शुण्ठी (सोंठ) के चूर्ण के साथ दिन में दो बार लें। (२) सिद्ध प्राणेश्वर रस– एक से दो गोली, चार से छः ग्राम शहद के साथ दिन में दो बार लें। (३) आनन्दभैरव रस– २५० से ५०० मि०ली० ग्राम, ४– ६ ग्राम शहद के साथ दिन में दो बार लें। (४) रामबाण रस– २५० से ५००मि०ली०ग्रा०, ४– ६ ग्राम शहद के साथ दिन में दो बार लें। (५) संजीवनी वटी– एक से दो गोली, ५– १० मि०ग्रा० आर्द्रक स्वरस के साथ दिन में दो या तीन बार लें।

## बालातिसार

**क्षेत्रीय नामः–** हि०– बच्चों के दस्त, गु०– बड़को ना झाड़ा, मरा०– बालतिसार, इं०– इन्फेन्टाइला डायरिया।

**लक्षणः–** बालक– गुलाबी लाल या सफेद रंग का ध्वनि के साथ दुर्गन्ध युक्त मल त्याग करता है। मल दोषानुसार कणमय, पिच्छिल, अम्लीय हो सकता है। रोगी तृष्णा, जलन, रोमांच, (रामहर्ष) और मूर्च्छा से ग्रसित होता है। मल द्वार के चारों ओर व्रण और व्रणपाक भी हो सकता है।

**चिकित्साः–** (१) इन्द्रयव चूर्ण शहद के साथ दिन में दो या तीन बार लेना चाहिए। (२) लाजाचूर्ण को बिल्वमूल के क्काथ में मिलाकर ५– १० ग्राम शर्करा के साथ दिन में तीन बार लेना चाहिए। (३) विल्व और आम का गूदा (फल मज्ञा) १२ ग्राम को २५० मि०ली० जल में क्वथित कर १२५ मि०ली० तक शेष रहे, क्काथ को दिन में दो या तीन बार लेना चाहिए। (४) समप्रमाण में राल चूर्ण, गुड़ और चना को लेकर चार ग्राम की वटी बना लें, इसे दिन में दो बार लेना चाहिए।

## बाल–रक्तातिसार

**क्षेत्रीय नामः–** हि०– बच्चों के खूनी दस्त, म०– रक्ताथिसारम, मरा०– रक्ती जुलाब, इं०– डिसेन्ट्री।

**लक्षणः–** इस व्याधि में बालक पीत, नीला या रक्तमिश्रित पतला मल त्याग करता है। इससे शरीर में जल की मात्रा की हानि होती है। अन्य संलग्न लक्षण है–पिपासा, जलन की अनुभूति, मूर्च्छा और गुदापाक।

**चिकित्साः–** (१) कृष्ण तिलचूर्ण, अजादुग्ध के साथ दिन में तीन बार लेना चाहिए। (२) कुटज छाल चूर्ण दिन में तीन बार शहद के साथ लेना चाहिए। (३) बिल्व पत्र स्वरस–६ मि०ली० इसे श्वेत जीरक चूर्ण ८ ग्राम एवं राल चूर्ण ८ ग्राम में मिला लें, यह योग विशेषतः जन्मजात शिशु के रक्तातिसार में उपयोगी है। मात्रा का निर्धारण शिशु की आयु पर निर्भर करता है।

## बालज्वरातिसार

**क्षेत्रीय नामः–** हि०– बच्चों का बुखार के साथ दस्त, मरा०– टपटील जुलाब, गु०– तावा मा घट ढाड़ा, इं०– डायरिया विथ फीवर।

ज्वर के साथ– साथ अतिसार होना ज्वरातिसार कहलाता है।

**चिकित्साः–** बाल चातुर्भद्र चूर्ण दिन में दो या तीन बार लेना चाहिए।

## बाल–प्रवाहिका

**क्षेत्रीय नामः–** बच्चों के पेचिश, गु०– मरोडो, मरा०– आमांश, जुलाब, इं०– डिसेन्ट्री।

इस रोग में बालक पुनः– पुनः अल्प मात्रा में चिपचिपा (श्लेष्मायुक्त), उदर– शूल सहित मल का त्याग करता है।

**चिकित्साः–** (१) सम प्रमाण में लिये गये कृष्णतिल और यष्टीमधु मूल का सूक्ष्म चूर्ण शहद के साथ दिन में तीन बार देना चाहिए। (२) जातीफल का जल के साथ कल्क बनाकर दिन में तीन बार लेना चाहिए। (३) इशबगोल का हिम बनाकर दिन में दो बार लेना चाहिए।

## रोमान्तिका

**क्षेत्रीय नामः–** हि०– खसरा, मरा०– गोवर, गु०– ओडि, खसरा, अं०–मीजल्स।

सामान्यतया यह रोग बच्चों को होता है, इसमें ज्वर के साथ बारीक दाने निकलते हैं। इसका संक्रमण प्रत्यक्ष वायु द्वारा अथवा व्यक्तिगत सम्पर्क से होता है। इसका संचय काल लगभग दो सप्ताह का होता है। रोग हो जाने पर इसकी संक्रमणशीलता प्रायः तीन सप्ताह तक बनी रहती है। यह रोग प्रायः १– १० वर्ष की आयु में होता है। एक बार रोग हो जाने पर जीवनभर के लिए व्याधिक्षमत्व आ जाता है। इसकी रोकथाम में विज्ञप्ति एवं पृथक्करण का विशेष महत्व है। इसके लिए प्रतिरोधक टीका है। यह रोग स्वयं शामक है और इससे कभी मृत्यु की संभावना नहीं है।

**लक्षणः–** सहसा तीव्र ज्वर, नाक से पानी बहना, छींके आना, आँखों में लालिमा, सूखी खाँसी तथा क्षुधानाश इस रोग के प्रारम्भिक लक्षण हैं। तीसरे या चौथे दिन रक्तिम वर्ण के बारीक दानें कान के पीछे, कनपटी, गर्दन तथा कुछ ही घण्टों के अन्दर पूरे चेहरे पर निकलते हैं। इनमें अंकुर से पीड़िका बनने की प्रवृति रहती है। चार या पाँच दिन में दानें पूरी तरह से समाप्त हो जाते हैं।

**चिकित्साः–** (१) कर्पूरादि चूर्ण–२५० मि०ग्रा० का मधु के साथ दिन में दो बार प्रयोग करें। (२) खदिराष्टक क्वाथ– ५– १५ मि०ली० का दिन में दो बार प्रयोग करें। (३) लक्ष्मीविलासरस– ६०– १२० मि०ग्रा० का मधु के साथ दिन में दो बार। (४) मृत्युञ्जय रस– ६०– १२० मि०ग्रा० का मधु के साथ दिन में दो बार प्रयोग करें।

## कुछ विशिष्ट संक्रामक रोगों का वर्णन

**कुष्टरोग (लेप्रौसी)ः–** इस रोग का प्रभाव बहुशः त्वचा तथा परिसरीय नाड़ियों पर होता है। इस रोग के जीवाणु का अविष्कार आर्मर हेन्सेन ने नासिका स्राव से किया था। यह माइकोवैक्टिरियम लेप्रा से होने वाला एक चिरकालिक संक्रमक रोग है।

इस रोग का संचयकाल कुछ महीनों से लेकर कई वर्षों तक का होता है। इस रोग का प्रसार अग्रलिखित ढंग से होता है–

(१) **वायु द्वारा**:– रोगियों के कास व हिक्का द्वारा जीवाणु वायु में उड़ते हुये संक्रमण करते हैं।

(२) **वस्त्रों द्वारा**:– रोगी के वस्त्रों के माध्यम से।

(३) **प्रत्यक्ष संक्रमण**:– एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में प्रत्यक्ष संक्रमण भी होता है। यदि अधिक समय तक संपर्क बना रहे।

(४) **अप्रत्यक्ष रूप**:– से मक्खियों एवं खटमलों द्वारा भी जीवाणु फैलाये जाते हैं। कुष्ठ रोग संक्रमण की दृष्टि से दो प्रकार का होता है–

(१) **लेप्रोमेटस प्रकार।** (२) **नानलेप्रोमेटस।**

इनमें से पहले प्रकार के रोगी अधिक संक्रमणशील होते हैं। इस रोग के रोकथाम के लिए निम्नलिखित उपाय करने चाहिए–

(१) **अनिवार्य विज्ञप्ति।**

(२) **पृथक्करण**:– (क) **कुष्ठाश्रमों**– जहाँ स्वस्थ कुष्ठ रोगी रहकर अपना जीवन यापन कर सकें और उनकी चिकित्सा भी हो सके।

(ख) **कुष्ठ चिकित्सालयों**– जहाँ संक्रमणशील कुष्ठ रोगियों का रख– रखाव व चिकित्सा कार्य किया जा सके।

(ग) **पंगुकुष्ठागृह**:– जहाँ पंगु कुष्ठ रोगियों का रख– रखाव किया जा सके।

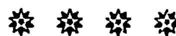
(घ) कुछ रोगियों को व्यवस्थानुसार स्वगृह में भी पृथक्कृत किया जा सकता है।

(३) कुष्ठ रोगियों के कपड़े, बिस्तरे, बर्तन आदि अलग रखने चाहिए और उनका यथोचित विसंक्रमण होना चाहिए।

(४) कुष्ठ रोगियों को सड़कों, गलियों तथा बस्ति में खुले नहीं घूमने देना चाहिए। उनको दूकानों पर बैठने तथा भिक्षादि माँगने के लिए घूमने की अनुमति नहीं होनी चाहिए।

(५) कुष्ठ रोगी का विवाह तब तक के लिए स्थगित कर देना चाहिए, जब तक कि उसकी संक्रमणशीलता समाप्त न हो जाय।

**चिकित्सा**:– सारिवा चूर्ण एक चम्मच, अमृता चूर्ण एक चम्मच, खदिर चूर्ण एक चम्मच, त्रिफला चूर्ण एक चम्मच– इन औषधियों का क्वाथ बनाकर प्रातः, सायं सेवन करें।



# ॥ विंशोऽध्यायः॥

## विषम ज्वर के हेतु

आरम्भ से ही अल्प (निर्बल) दोष अथवा ज्वर छूट जाने पर अवशिष्ट, अल्प दोष, मिथ्या आहार– विहार से पुनः प्रकुपित होकर रसादि किसी भी धातु में जाकर विषम ज्वर उत्पन्न करता है।

**भेदः**– (१) सन्ततः (२) सतत् (३) अन्येद्युष्क (४) तृतीयक (५) चतुर्थक।

(१) **सन्ततज्वरः**– जो ज्वर बिना उतरे सात दिन , दस दिन या बारह दिन तक चलता है, उसे सन्ततः ज्वर कहते हैं।

(२) **सतत् ज्वरः**– २४ घण्टे में ज्वर का दो आवेग आते हैं, उसे सतत् ज्वर कहते हैं।

(३) **अन्येद्युष्कः**– २४ घण्टे में एक बार चढ़ने वाले ज्वर को अन्येद्युष्क कहते हैं।

(४) **तृतीयकः**– प्रति तीसरे दिन आने वाले ज्वर को तृतीयक ज्वर कहते हैं।

(५) **चतुर्थकः**– प्रति चौथे दिन आने वाले ज्वर को चतुर्थक ज्वर कहते हैं।

### विषमज्वर (मलेरिया)

यह रोग प्रायः वायुमंडल की सर्दी– गर्मी से उत्पन्न होता है। नदियों तालों के किनारे, गीली भूमि वाले स्थलों में अधिक उत्पन्न होता है। भारतवर्ष में प्रायः सूर्य के दक्षिणायन होने पर होता है।

इसकी उत्पत्ति के कारण विशिष्ट जीवाणु तीन प्रकार के होते हैं। उनमें दो तृतीयक और चतुर्थक को उत्पन्न करने वाले मृदुकर्मा होते हैं।

इन दोनों से भिन्न एकादिक आदि विषमज्वर को उत्पन्न करने वाला तीसरा जीवाणु तीव्र कर्मा होता है।

ये जीवाणु मनुष्य के शरीर में प्रविष्ट होकर रक्त में ठहरते हैं। जब मच्छर प्रायः लंबे दंश वाले, उस रक्त को चूसते हैं, तो वे जीवाणु रक्त द्वारा उसके शरीर में जाकर आमाशय और लाला ग्रन्थियों में ठहर जाते हैं। जब वे विषमज्वर कीट से आक्रान्त मच्छर दूसरे मनुष्य को काटते हैं, तो क्षत के द्वारा उस मनुष्य के शरीर में वे जीवाणु प्रविष्ट होकर ज्वर उत्पन्न कर देते हैं।

विषमज्वर रोकने के लिए निम्नलिखित विषयों पर ध्यान देना चाहिए–

(१) मच्छर काटने से रक्षा।

(२) मच्छरों का नाश।

(३) चिकित्सा।

(४) शिक्षा।

सोने का कमरा ऊपरी मंजिल में हो। शय्या के चारों ओर मसहरी लगानी चाहिए। गृहमार्ग आदि रोज साफ करना चाहिए। कतबार आदि बाहर फेंकना चाहिए। गड्डा आदि पाटकर ऊँचा करना चाहिए। कहीं भी घर के किसी हिस्से या मार्ग आदि में गड्ढों में जल इकट्ठा न होने पाये, इस ओर सदा ध्यान देना चाहिए। तम्बाकू का पत्ता, देवदारू, धूप और गन्धक, लोहबान आदि की धूनी देनी चाहिए। मिट्टी के तेल, कपूर और लहसून की गन्ध से भी मच्छर नष्ट होते हैं। जल में विषम ज्वर के जीवाणु को वहन करने वाली मच्छरी अण्डे देती हैं, इसलिए उसको नाश करने के लिए उसमें मछलियाँ छोड़नी चाहिए अथवा उसमें सब जगह मिट्टी का तेल फैला देना चाहिए। जिससे अण्डे सहित मच्छर नष्ट हो जायँ।

**चिकित्साः–** (१) अमृता चूर्ण एक चम्मच दुग्ध से प्रातः सायं। (२) अमृतारिष्ट तीन चम्मच समभाग जल के साथ सुबह, सायं सेवन करें। (३) सुदर्शन चूर्ण एक चम्मच वयस्क को दुग्ध या जल से सुबह, सायं।

**राजयक्ष्मा**

**क्षेत्रीय नामः–** हि०,गु०– तपेदिक, मरा०– क्षय, अं०– थाइसिस या ट्यूबरकुलोसिस।

क्षय रोग के आक्रमण में प्रधानतः तीन कारण हैं:(१) जीवाणु, (२) शारीरिक शक्ति का ह्रास, (३) अशुद्ध वायु का सेवन करने वाले काम।

क्षय पीड़ित मनुष्यों के मुख से थूक के साथ असंख्य कीटाणु निकलते हैं। वह थूक जहाँ– तहाँ गिर जाने पर सूख जाता है, तो चूर्ण बन जाता है। वह चूर्ण वायु द्वारा उड़कर धूलि में मिश्रित हो जाता है। जो मनुष्य इस प्रकार के धूलि मिश्रित वायु में श्वास लेता है। यदि उसके शरीर में अस्वास्थ्य के कारण कीटाणुओं का अधिकार हुआ तो निश्चित् वह क्षय रोग से आक्रान्त हो जाता है।

**बचाव के उपायः–** (१) क्षय रोगियों के अत्यन्त पास किसी को भी अधिक देर तक नहीं ठहरना चाहिए। दो– तीन हाथ की दूरी बनाये रखनी चाहिए।

(२) क्षय रोगी को ढके हुए पीकदान में ही थूकना चाहिए, जिसमें निर्जन्तुघ्न घोल रखा हो और बाद में उसे किसी अलग पात्र में रखकर उबाल देना चाहिए, जिससे सब जीवाणु मर जायँ। (३) रोगी के रुमाल, वस्त्र, उपवस्त्र आदि को खौलते पानी में डालकर फिर साफ करना चाहिए। (४) क्षय का रोगी कास के वेग को न रोके और न व्यर्थ ही खाँसे। खाँसने के समय अपने मुख के सामने वस्त्र रख कर खाँसे। जिससे थूक के कण दूसरी जगह न गिरे। (५) रोगी के कमरे में ऐसा प्रबन्ध हो कि मक्खियों का आगमन न हो; क्योंकि ये ही क्षय के कीटाणुओं को फैलाती हैं। इसलिए सर्वदा जाली सहित कपाट से रोगी के घर का द्वार ढका रखें तथा रोगी के निवास स्थान के पास अशुद्ध दुर्गन्धित पदार्थ का ढेर न रहे, सब जगह सफाई रहे।

जो भोजन क्षयोत्पादक कीटाणुओं से युक्त होता है, उस भोजन को जो खाता है, उसके आमाशय में भोजन द्वारा कीटाणु जाते हैं। प्रायः क्षय रोग पीड़ित पशुओं का दूध पीने अथवा उनका मांस खाने से यह सम्भव होता है।

दूध दुहने का बर्तन भी सर्वथा गरम जल से अच्छी तरह शुद्ध कर रखना चाहिए। क्षययुक्त पशुओं का दूध पीने से भी मनुष्य क्षयाक्रान्त हो जाते हैं। इसलिए सन्देह होने पर अच्छी तरह खौलाकर पीना चाहिए।

क्षयाक्रान्त पालतू पशुओं का चुँबन व क्षयाक्रान्त मनुष्यों के चुँबने से बचना चाहिए। सार्वजनिक स्थलों में जलपान के समय किसी अज्ञात क्षय रोगी के मुँह से आया हुआ जल पात्र में लगा हुआ थूक, अन्य स्वस्थ मनुष्य के मुँह के भीतर चला जाय तो वह भी क्षय रोग से आक्रान्त हो जाता है। अतः सावधानी रखनी चाहिए।

जो क्षयरोगी की पीकदानी और अन्य पात्रों को साफ करता है, उसे यदि क्षत हो जाय या घाव लग जाय तो क्षय के कीटाणु उस क्षत द्वारा रक्त में प्रविष्ट होते हैं। क्षय रोगी के अन्यान्य परिचारक या मित्र यदि व्रण से युक्त हैं और रोगी के पास बैठे हैं, यदि रोगी के थूक से क्षय के कीटाणु किसी प्रकार उनके व्रण में गिर जाय तो उनके रक्त में कीटाणु प्रवेश कर जाते हैं। क्षय रोग के चिकित्सकों को भी भय हो जाता है, यदि असावधानी से क्षय रोगी से छुये गये यन्त्र द्वारा उन्हें घाव हो जाय। इसलिए विशेषतः चिकित्सक क्षय रोगी के सेवक मित्र और कुटुम्बी सावधान रहें।

रोगी को यह जानना चाहिए कि वह किसी भी बच्चे आदि का स्पर्श न करें। यह भी सर्वदा जानना चाहिए कि क्षय रोगी के खान– पान आदि में प्रयुक्त

पात्र दूसरों के उपयोग में न आये, जब तक की वह गरम जल से अच्छी तरह शुद्ध न कर लिया जाय। इसी प्रकार सबके वस्त्र आदि के विषय में भी जानना चाहिए।

### क्षय रोग के प्रसार के कारण

(१) **बालकों में:–** माता और पिता से अपनी सन्तान में क्षयरोग संक्रमित होता है। अर्थात् क्षयरोग सहज जन्म से ही उत्पन्न होने वाला भी होता है। किन्तु उसे असाध्य नहीं जानना चाहिए। बल्कि नये क्षय के समान साध्य ही जानना चाहिए। प्रायः यह बहुत कम होता है। इसमें रोगी की छाती संकुचित होती है। कन्धे नीचे होते हैं। कभी– कभी धीरे– धीरे दुर्बलता बढ़ती हुई दिखाई देती है। जब भी कभी बच्चों में क्षय उत्पन्न होता है, तभी प्रायः सर्वदा ये निम्नांकित कारण प्राप्त होते हैं– (१) बालक क्षय पीड़ित माता अथवा किसी दूसरे यक्ष्मा के रोगी के पास सोया हो। (२) या बहुत समय तक उसके निकट रहा हो। (३) अथवा रोगी ने बालक का मुख चूमा हो। (४) अथवा बालक दूषित कीटाणुयुक्त मैले बिछौने या स्थान में खेलता रहा हो।

इसलिए बाल्यावस्था से ही स्वच्छता और स्वास्थ्य रक्षण के नियम पालन की परम आवश्यकता है। यक्ष्मा रोग से बचाव के लिए – (१) सर्वदा शुद्ध वायु में निवास करें, नित्य पुष्टिकारक भोजन करें, व कभी भी ऐसा वस्त्र न धारण करें, जो शरीर को कसे, कुछ शिथिल ही धारण करें, जिससे प्राकृतिक कार्य में भी हानि न हो और श्वास आदि में भी बाधा न हो।

### वयस्क लोगों में क्षय रोग होने के कारण

(१) नशीली वस्तुओं का अत्यधिक सेवन। (२) मैथुन की अधिकता। बाल्यावस्था में विवाह तथा सभी कामों में अपनी शक्ति से अधिक काम करना। (३) कई रोग ऐसे होते हैं, जिनके कारण शरीर दुर्बल होता है। जैसे श्वसनक (न्यूमोनिया), आन्त्रिक ज्वर(टाइफाइड), विस्फोटक(शीतल), उपदंश, प्रतिश्याय(जुकाम) और अतिसार आदि। (४) कई व्यापार के द्वार ऐसे हैं, जहाँ अनेक प्रकार से धूलि कार्यकर्त्ताओं की देह में श्वास के साथ चली जाती है। जैसे बेसन (आटा, सुर्ती आदि पीसने) का कार्यालय, पाक कार्यालय (होटल, बेकरी आदि), सिगरेट, बीड़ी का कारखाना, काष्ठ और लोह आदि धातु का कार्यालय, मुद्रण और सीने के (चमड़ा, कपड़ा आदि सीने के) कारखाने आदि। (५) दरिद्रता– अपूर्ण भोजन की प्राप्ति। इससे बाल्यावस्था से ही श्रमजीवी हो जाना। (६) स्वास्थ्यनाशक गृह, जहाँ पर बहुत अधिक अन्धकार का अधिकार है। सूर्य का प्रकाश नहीं जाता और वायु भी अच्छी तरह नहीं आती। जिनकी सफाई नहीं

की जाती, जहाँ पर बहुत सी वस्तुएँ कुप्रबन्ध से रखी रहती है। (७) सार्वजनिक भोजनालय– जहाँ पर बहुत से मनुष्य रुपया देकर भोजन करते हैं। कभी संक्रामक रोगी भी आकर भोजन करते हैं। यहाँ पर स्वास्थ्य रक्षा का वैसा प्रयोजन नहीं जैसा द्रव्य का। कभी पाचक और परिवेषक (परोसने वाले) भी रोगी होते हैं। प्रायः लोग वहीं थूक आदि भी फेंकते हैं। धूम भी पीते हैं। इसी से यक्ष्मा का संक्रमण होता है। इसलिए प्राचीनों ने दोष– रहित स्वयंपाकिता(स्वयं पकाकर खाना) अथवा अपने सजातीय, रिश्तेदार और मित्र का बनाया ही भोजन करने का प्रचार किया जो कि जाना–बूझा रहता है।

इन उपरोक्त कारणों से मनुष्य की देह में यक्ष्मा का समावेश होता है।

**सावधानियाँ:–** (१) उपरोक्त कारणों से बचने का प्रयास करना चाहिए। (२) १४ वर्ष तक की आयु से कम अवस्था में बालकों द्वारा धन आदि उपार्जन कराने के लिए कोई परिश्रम पूर्ण कार्य नहीं कराना चाहिए। (३) अनेक प्रकार के धूल वाले कारखानों में कार्यकर्त्ताओं का यह कर्त्तव्य है कि सर्वदा धूल से रक्षा के उपाय करें। जैसे श्वास ग्रहण करने के लिए मुँह और नाक के ऊपर कपड़े का ढक्कन धारण करें तथा नाक एवं मुँह से धूल निकालें। दाँत के भीतर से मिट्टी और धूल को घिस कर अलग करें। ऐसा करने से लार के संयोग से उत्पन्न माधुर्य विशेष (ग्लूकोज) उत्पन्न नहीं होता, जो उपद्रव करने वाले कीटाणुओं के प्रसार के लिए एक आवश्यक पदार्थ है। (४) छुट्टी के अवसर पर शुद्ध वायु आदि के सेवन का प्रबन्ध करना चाहिए। मादक वस्तु त्याग दें। (५) सर्वदा स्वास्थ्य के नियमानुकूल आचरण करें।

**लक्षण:–** राजयक्ष्मा एक क्षयज रोग है, जो कि मंद ज्वर क्षुधानाश (अग्निमान्द्य), रात्रिस्वेद और भारक्षय से अभिलक्षित होता है। अस्पष्ट प्रकृति के ज्वर में एक कारण राजयक्ष्मा भी हो सकता है। इसके अन्य लक्षण शरीर का जो अंग ग्रसित होता है उस पर निर्भर करता है।

फुफ्फुस सबसे अधिक ग्रसित होने वाला अंग है और इस दशा में रोगी को सायंकालीन ताप वृद्धि, कास, रक्तवमन, स्वर विकृति, रात्रिस्वेद, क्षुधानाश, भारनाश, स्कन्ध, पार्श्वशूल और हस्तपदतल में ऊष्मा प्रतीति आदि लक्षण होते हैं।

**एकौषधि चिकित्सा:–** (१) पिप्पली चूर्ण– एक ग्राम, १२ से २४ ग्राम घृत और २५० मि०ली० गौदुग्ध के साथ दिन में तीन बार लेना है। (२) ताजे वासा पत्र का स्वरस १४ से २८ मि०ली०, ५ से १० ग्रा० घी के साथ दिन में तीन बार लेना चाहिए। (३) गुडूची तने का क्वाथ १४ से २८ मि०ली०, १ ग्राम पिप्पली चूर्ण के साथ दिन में तीन बार लेना है।

**मिश्रित योगः–** (१) एलादि चूर्ण– एक से तीन ग्राम, ५ से १० ग्राम मधु के साथ दिन में तीन बार। (२) सितोपलादि चूर्ण– एक से तीन ग्राम, ५ से १० ग्राम मधु के साथ दिन में तीन बार। (३) महालक्ष्मी विलासरस– एक से दो वटी, पाँच से दस ग्राम मधु के साथ दिन में तीन बार। (४) द्राक्षारिष्ट– १४ से २८ मि०ली० भोजनोपरान्त समप्रमाण जल के साथ दिन में दो बार।
(५) जयमंगल रस– ६० से २५० मि०ग्राम, ५ से १० ग्राम मधु के साथ दिन में तीन बार। (६) चतुर्मुख रस– ६० से २५० मि०ग्रा०, ५ से १० ग्राम शहद के साथ दिन में तीन बार।
(७) च्यवनप्राश अवलेह– १२ से २४ ग्राम , १०० से २५० मि०ली० गर्म दूध के साथ दिन में तीन बार।

**पथ्यः–** शालि, गोधूम, यव बीज, आमलकी, आम्र, अजादुग्ध।

**अपथ्यः–** तेल में बने पदार्थ, बैगन, करेला, बेल और अजाजी आदि राजयक्ष्मा के रोगी के लिए हानिकारक हैं। मैथुन, दिवाशयन और क्रोध का भी त्याग करना चाहिए।

# ॥ एकविंशोऽध्यायः॥

## एड्स

**एड्स की परिभाषाः–** 'एड्स'(एक्वायर्ड इम्यून डेफिसियेन्सी सिन्ड्रोम) एक वायरल इन्फेक्शन है, जो प्रायः गुदा मैथुन करने व कराने वाली स्त्रियों और पुरुषों को होता है। इस रोग के परिणामस्वरूप रोगी की शारीरिक रोग प्रतिरोधक शक्ति शनैः– शनैः कम होते–होते एकदम समाप्त हो जाती है। इसी को एड्स की संज्ञा दी गयी है।

### एड्स–परिचय

वर्तमान समय में एड्स विश्व का सबसे जटिल रोग माना जा रहा है। एड्स जिसका पूरा नाम 'एक्वायड इम्यून डिफिसिएन्सी सिन्ड्रोम है।' वैज्ञानिकों का विचार है कि यह एक संक्रामक रोग है, जो मुख्यतः समलैंगिक मिलन से एक दूसरे को होता है।

यह एक प्रकार के वायरस से होता है, जिसके कारण शरीर में संक्रमण होता है तथा शरीर में रोगों से लड़ने की प्राकृतिक क्षमता नष्ट हो जाती है। इसका आरम्भ १९८१ में अमेरिका से हुआ है।

**कारणः**– यह संक्रामक रोग है, जो समलैंगिक मैथुन से एक दूसरे को हो जाता है। एड्स के पैदा होने का कारण एक प्रकार का विषाणु (वायरस) होता है। वैज्ञानिकों ने निम्न प्रकार के चार वायरसों में से किसी एक को इस रोग का कारण माना है– (१) एस०ए०वी०, (२) सी०एम०वी०,

(३) एच०टी०एल०वी०, (४) एच०टी०एल०वी०iii।

इनमें एच०टी०एल०वी० iii नामक विषाणु को इसका प्रधान कारण माना जा रहा है। यह जो इसका प्रमुख वैज्ञानिक पक्ष रहा। दूसरा– इसका फैलना निम्न कारणों से भी है– (१) एड्स पीड़ित व्यक्ति के साथ मैथुन। (२) विषाणुयुक्त नीडिल एवं सीरिंज का प्रयोग। (३) संक्रमित व्यक्ति का रक्त दूसरे को देना। (४) संक्रमित व्यक्ति का चुम्बन (यदि जीभ या गाल के अन्दर घाव है), यदि शरीर पर कहीं त्वचा कटी– फटी है या गुप्तांगों के घाव।

एड्स के विषाणु रक्त की श्वेत कणिकाओं को नष्ट कर देते हैं, जिसके कारण उनमें रहने वाले विशेष (टीलिम्फोसाईटस) समाप्त हो जाते हैं, जिससे शरीर की रोग प्रतिरोधक क्षमता का ह्रास होने लगता है।

इसी से मनुष्य एड्स की जकड़ में आ जाता है। कुछ वैज्ञानिकों ने बच्चों में निरतंर एण्टीवायोटिक का प्रयोग भी हानिकारक माना है। क्योंकि इसके निरतंर सेवन से बच्चों में जीवाणुओं से लड़ने की प्राकृतिक क्षमता नष्ट हो जाती है।

**लक्षणः**– एड्स से पीड़ित व्यक्ति के शरीर का वजन कम होने लगता है। चिरकालीन अतिसार होते हैं। ज्वर लगातार रहता है। अतिसार होते हैं। खाँसी एवं कफ आती है। ग्रन्थियों में सूजन हो जाती है। त्वचा रोग भी हो जाता है, जिसमें कैपसीसारकोमा एक भयानक रोग होता है।

**सावधानियाँ एवं बचावः**– जो– जो नैतिक आचरण का पालन नहीं करेंगे वे एड्स का शिकार हो जायेंगे, ऐसा भय बना रहेगा। भारत में एड्स के शोध के लिए निम्न स्थानों पर केन्द्र स्थापित किये गये हैं। (१) दिल्ली, (२) मद्रास, (३) पूना, (४) बेल्लूर, (५) श्रीनगर।

उचित औषधियों के अभाव में रोगी का जीवन निरर्थक होता है। कुछ समय तक लाक्षणिक चिकित्सा के द्वारा जीवन काल बढ़ाया जा सकता है। अतः बचाव ही एक मात्र चिकित्सा कही जा सकती है। (१) एड्स पीड़ित से अलग रहें। (२) जिसका रक्त लेना हो उनकी पूर्ण जाँच कर लें। (३)विषाणु युक्त नीडिल एवं सीरिंज का प्रयोग न करें। (४) एड्स पीड़ित से मिलाप न करें। (५) केवल पति–पत्नी तक मैथुन रहे। अज्ञान व्यक्ति से मैथुन एड्स का निमन्त्रण है।

**आपको इन चीजों से एड्स नहीं हो सकता है:–** (१) सामान्य सामाजिक सम्बन्ध जैसे हाथ मिलाना, छूना और गले मिलना। (२) स्वीमिंग पूल, रेस्टोरेण्ट तथा अन्य पब्लिक स्थानों पर। (३) खाँसी, छींक, थूक । (४) कपड़ों के प्रयोग से। (५) टायलेट सीट, दरवाजों के हैण्डिल आदि। खाना, ऐनक और प्यालियाँ।

फिर भी भारतीय जीवनशैली के अनुसार किसी का जूठा न खाएँ तथा साफ– सफाई तथा मर्यादित संभोग तक सीमित रहें।

**पश्चिम का मारक रोग–एड्स चिकित्सा:–** कविराज वैदेही शरण सिंह लिखते हैं– हमारे आयुर्वेद शास्त्रों में जो वर्णित भाव का चरक, सुश्रुत ने वर्णन किया है वह दर्शनीय है। एड्स से मिलता– जुलता रोग 'शोष' एक रोग का जिक्र किया गया है। इस रोगी को उस समय लोग रोगों का बादशाह कहा करते थे।

संहिताओं में वर्णित यह रोग यौन रोग से सम्बन्धित है। जिसका नाम 'शोष' पड़ा। आयुर्वेद शास्त्रों में लिखा गया है कि सर्वप्रथम यह रोग चन्द्रमास को हुआ, जिसकी २८ पत्नियाँ थीं।

चन्द्रमास को जब शोष जैसे यौन रोग ने पकड़ा तो ब्रह्मा ने एक यक्ष को भेजकर चन्द्रमास की जांच, परख (निदान), की उसकी चिकित्सा करवाई, तब चन्द्रमास पूर्ण स्वस्थ हुए। ठीक इसी प्रकार एड्स भी यौन रोग है।

स्पष्ट है कि अतिराग से रोग होता है। क्योंकि अतिप्रसंग करने से वीर्य का नाश हो जाता है।

वीर्य को मणि कहा गया है। यदि मणि (ओज) ही क्षय हो गया तो उसका नाश आवश्यम्भावी है। शक्ति सामर्थ्य जाता रहेगा। शक्ति सामर्थ्य के नाश से वातादि दोष प्रकुपित शरीरस्थ दोषों में विषमता, सोशा यानि एड्स जैसे रोग की उत्पत्ति होगी ही।

**एड्स व शोष नामक रोग के लक्षण समान है, जो निम्नलिखित हैं–** बार–बार बुखार होना, बगल की ग्रन्थियों में सूजन होना, मुँह या खाने की नली में घाव होना, अधिक दस्त होना, वजन कम होना, रोगी को बुरे सपने दिखाई देना।

**तो एड्स को शोष कहना क्या अनुचित है?**

**शोष रोग:–** **अनेक रागानुगतो बहुरोग पुरोगमः।**
**दुर्विज्ञेयो दुर्निवारः शोषो व्याधिमहाबलः॥ (सु०उत्तर तन्त्रम् ४१–३)**

अनेक रोग उपद्रव के रूप में जिसका आश्रय लेकर होते हों तथा जिसके होने के पूर्व पतिश्याय, कासश्वास आदि पूर्व रूप के रूप में उत्पन्न होते हों, जिसका निदान (डायग्रोसिस) करना अत्यन्त कठिन हो और जिसकी सफल चिकित्सा भी न हो सकती हो, ऐसी महाबली असाध्य व्याधि (बीमारी) को शोष रोग कहते हैं।

शोष रोग एक प्रकार से क्षय रोग जैसा ही है। यद्यपि यह राजयक्ष्मा नहीं है; परन्तु इस रोग में शरीर की धातुओं और रोग प्रतिरोधक शक्ति का शोषण हो जाता है और शरीर का क्षय होकर रोगी की मृत्यु हो जाती है।

इस रोग के रोगी के शरीर पर औषधियों का प्रयोग नहीं हो पाने से रोग अच्छा नहीं हो पाता और रोगी अन्य व्याधियों का शिकार होकर अकाल मृत्यु को प्राप्त होता है ? **क्या यह शोष रोग एड्स जैसा ही तो नहीं**?

**चिकित्साः–** (१) सर्व प्रथम अस्वस्थता को आने नहीं दें, पौष्टिक भोजन करना चाहिए। रसायन एवं वाजीकरण दवा का सेवन भी बहुत जरूरी है। (२) दिल्ली के 'एन्शिएंट सांइस ऑफ लाइफ' के सम्पादक श्रीराजगोयल ने अपने लेख में बतलाया है कि– उल्लिखित विभिन्न रसायनों तथा शरीर के विभिन्न अवयवों को पुनरूज्ञीवित करने वाली कायाकल्प सम्बन्धी औषधियों का प्रयोग किया जाए तो एड्स की चिकित्सा सम्भव है।

इनके अनुसार अप्राकृतिक तथा प्राकृतिक यौन सम्बन्ध, अत्यधिक मदिरापान तथा अत्यधिक शोक, क्रोध, असन्तोष आदि के कारण, शरीर में ओज् की कमी होने के कारण शरीर की प्रतिरोधक शक्ति का ह्रास होने लगता है।

ओज् की कमी के कारण रोगी की मृत्यु भी हो सकती है। ओज् की कमी होने से अशुद्धियाँ एवं अनावश्यक पदार्थ एकत्रित होने लगते हैं, जो रोग में भयंकरता उत्पन्न कर देता है।

**''भोग से रोग होगा ही, यह ध्रुव सत्य है।''**

**रसायन में–** च्यवनप्राश, आमलकी रसायन, मकरध्वज, हरीतकी रसायन।

**रस में:–** वृहद्‌वात चिन्तामणि रस, वसन्त कुसुमाकर रस, स्वर्ण वसन्त, मालती रस का सेवन वांछनीय है। (१) अश्वगंधा चूर्ण आधा चम्मच, मधुयष्ठी चूर्ण आधा चम्मच, शतावर चूर्ण आधा चम्मच – प्रातः सायं गौ दुग्ध के साथ।

## स्नायुक रोग

**क्षेत्रीय नामः–** बं०– स्नायु रोग, हि०–नारूवा, मरा०–नारू, अं०–डे कोन्टियासिस, गुईना वर्म।

अत्यन्त वृष्टि आदि कारणों से दूषित जल का अधिक सेवन करने पर, उससे कुपित हुआ दोष अथवा उसके द्वारा कोष्ठ में पहुँचा हुआ कृमि, विसर्प की भाँति हाथ– पैरों में शोथ पैदा करके, उसका भेदन कर देता है और उससे उत्पन्न हुए क्षत में वहाँ की ऊष्मा युक्त स्नायु को सुखाकर श्वेत तन्तु के समान गोल जीव को उत्पन्न कर धीरे– धीरे त्वचा से बाहर निकलता है। यदि वह बीच में कदाचित् टूट जाता है तो रोग का प्रकोप बढ़ जाता है और यदि सम्पूर्ण निकल जाता है तो रोग की शान्ति हो जाती है। परन्तु दूसरे स्थान पर पुनः उक्त रीति से निकलना प्रारम्भ हो जाता है। जिस मनुष्य को कभी प्रमादवश बाहु तथा जंघा में यह स्नायुक टूट जाता है, तो उस अंग को संकुचित कर शनैः–शनैः खञ्जना को भी उत्पन्न कर देता है।

यह एक कृमिज रोग है, अंग्रेजी में इसे ड्रेकन्टिएसिस या गिनीवार्म रोग कहते हैं। दूषित जल के द्वारा मनुष्य में इसका संक्रमण होता है। यह कृमि आमाशय में पहुँचता है। सगर्भा होने पर स्त्रीकृमि आन्त्र का भेदन कर त्वचा के नीचे पहुँचती है। यहाँ इसकी वृद्धि होती रहती है और यह क्रमशः नीचे की ओर गमन करती हुई शुक्ल संधि या पाँव में पहुँचती है। यहाँ एक विस्फोट उत्पन्न होता है, जो जल के संपर्क से फूट जाता है। उससे उत्पन्न क्षत द्वारा स्त्रीकृमि अपने मुख द्वारा (प्रायः उसके संपूर्ण शरीर में व्याप्त) गर्भाशय को उलट कर उसमें से अण्डों को बाहर जल में फेंकती है। इस व्रण द्वारा सूत्र रूप से निकला हुआ कृमि का मुख पकड़कर सावधानी से खींचा जा सकता है। इस स्त्री कृमि की लम्बाई १५ से २० इंच तक और चौड़ाई लगभग १/१५० इंच होती है। इस विस्फोट की उत्पत्ति के साथ ही उर्द्धज्वर, वमन आदि अनेक उपद्रव होते हैं। यह विस्फोट कभी–कभी हाथ, पीठ या नितम्ब पर भी होते हैं।

**चिकित्साः–** अगर त्वचा की फटी हुई जगह पर परजीवी दिखाई दे, तो सावधानी पूर्वक उस जगह पर देवदाली का लेप लगाना चाहिए और उसे एक पतली लकड़ी पर लपेटते हुये बाहर निकालना चाहिए।

(२) १०० मि०ली० निर्गुण्डी स्वरस को गाय के घी के साथ तीन दिन तक सेवन करना चाहिए।

**बाह्य प्रयोगः–** शिग्रु की जड़, पत्ते व सैंधव समान भाग लेकर कांजी में इनका लेप बनाकर प्रभावित भाग पर लगाना चाहिए।

## उपदंश रोग

**क्षेत्रीय नामः–** बं०–उपदंश, हि०– गरमी, गु०– चांदी पड़वी, मरा०– संसर्गजन्य रोग, गुह्यरोग, इं०– हार्ड एण्ड साफ्ट शैंकर, सिफिलिस।

उपदंश रोग का एक रोगी से दूसरे रोगी में संक्रमण, पहिले से संक्रमित विपरीत लिंगी स्त्री या पुरुष के साथ सहवास करने के कारण होता है। इसकी पहचान रोगी के जननांगों में सव्रण या अव्रण शोथ या प्रदाह से की जा सकती है। व्रणों का वर्ण सम्प्राप्ति निर्मापक दोषों के आधार पर कृष्ण पाण्डुर, रक्त एवं श्वेत हो सकता है।

**चिकित्साः**– (१) सारिवादिवटी– २ से ४ गोली, ५० मि०ली० पानी के साथ दिन में दो बार लेवें। (२) खदिरारिष्ट–१४– २८ मि०ली० की मात्रा बराबर जल से भोजनोपरान्त दिन में दो बार लेना चाहिए।

## फिरंग

यदि उपदंश का प्रारम्भिक अवस्था में सम्यक् उपचार नहीं किया जाता तो यह रसायनियों के द्वारा त्वचा, श्लैष्मकला एवं शरीर के अन्यान्य अवयवों में फैल जाता है, तब यह फिरंग के नाम से जाना जाता है।

फिरंग और उपंदश ये दोनों रोग सदा व्यभिचार से उत्पन्न होते हैं और एक व्यक्ति से दूसरे में फैलते हैं। रोग ग्रस्त स्त्रियों से पुरुषों को और पुरुषों से स्त्रियों को रोग होता है। ये सामाजिक रोग कहे जाते हैं। जो सारे संसार में समाज की प्रत्येक जातियों में फैले हुये हैं। इनसे व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों प्रकार की हानि होती है। एक बार रोग ग्रस्त होने पर शरीर उपद्रवों का केन्द्र बन जाता है। जिनका प्रभाव न केवल व्यक्ति ; पर किन्तु सारे परिवार और भावी सन्तान पर भी पड़ता है। रोगों का सम्वहन प्रसंग के द्वारा होता है। रोग के जीवाणु प्रसंग में श्लैष्मिक कला के क्षत हो जाने से व्रण द्वारा शरीर में प्रवेश करते हैं। वह अक्षत चर्म या कला से प्रवेश नहीं कर सकते।

डॉक्टरों तथा परिचारिकाओं को रोगी के व्रण के स्पर्श से भी रोग हो जाता है। किन्तु इस प्रकार उत्पन्न हुआ व्रण प्रायः ऊँगलियों या हाथों पर होता है, जननेन्द्रियों पर कभी नहीं होता। चुम्बन अथवा रोगी के प्रयुक्त वस्त्र, रूमाल, तौलिया, हुक्के आदि के प्रयोग से भी देखा गया है। यद्यपि ऐसे रोगियों की संख्या बहुत कम होती है।

**चिकित्साः**– (१) द्वीपान्तर वचा चूर्ण तीन ग्राम, पर्याप्त मधु के साथ दिन में दो बार लेना चाहिए। (२) निम्ब पत्र १६ भाग, हरीतकी फल त्वक् २ भाग, आमलकी फल त्वक् दो भाग, हरिद्राकन्द एक भाग लेकर चूर्ण बना लें एवं तीन ग्राम की मात्रा में ५० मि०ली० जल के साथ दिन में दो बार सेवन करना चाहिए।

# ॥ द्वाविंशोऽध्यायः॥

## आत्ययिक अवस्थाओं में प्राथमिक उपचार

आत्ययिक अवस्थाओं (संकटकालीन अवस्थाओं) में प्राथमिक उपचार का अभ्यास वास्तविक चिकित्सा और शल्य क्रिया के सिद्धान्तों पर निर्भर है, जिनका ज्ञान दुर्घटना तथा आकस्मिक बीमारी में प्रशिक्षित व्यक्तियों को ऐसी कुशल सहायता देने के योग्य बनाता है, जिससे जीवन रक्षा होती है। आरोग्य प्राप्ति में उन्नति होती है और जो घाव तथा रोग को अधिक बुरी दशा में होने से बचाता है, जब तक कि चिकित्सा सहायता प्राप्त नहीं होती।

प्राथमिक उपचार निश्चयात्मक रूप से संकट काल में सहायता के लिए सीमित है, जो उस समय उपलब्ध वस्तुओं से दी जाती हैं। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि प्राथमिक उपचारक को चिकित्सक का स्थान ले लेना चाहिए।

**प्राथमिक सहायता का क्षेत्र–**

**१. रोग निर्णय–** बीमारी या दुर्घटना किस प्रकार हुई। घायल यदि सचेत हो तो उससे या बेहोश होने पर साक्षियों से यह ज्ञात की जा सकती है। यह सूचना मिल सकती है कि कोई व्यक्ति किन रोगों से पीड़ित हो सकता है या उसके वातावरण से कारण का पता चल सकता है।

**लक्षण–** पीड़ित व्यक्ति जो अनुभव करता है उसे लक्षण कहते हैं, जैसे ठंड लगना या कंपकपी आना, मूर्छित होना अनुभव करना, जी मतलाना, प्यास तथा पीड़ा का अनुभव करना। सचेतावस्था में पीड़ित रोगी की पूछताछ से किसी अंग विशेष की जानकारी हो जाती है, जो परीक्षण काल में अधिक सहायक होती है।

**चिह्न–** पीड़ित व्यक्ति की प्राकृतिक सामान्य स्थिति में जो परिवर्तन आ जाता है, उसे चिह्न कहते हैं। जैसे कि पीलापन, रक्त का इकट्ठा होना, सूजन तथा कुरूपता जो प्राथमिक सहायक स्वयं देख सकता है। चिह्न सबसे अधिक विश्वस्त प्रदर्शन है, जिन पर निदान निर्भर है, परन्तु प्रत्येक विशेष प्रकरण की परिस्थितियाँ उसके चरित्र वर्णन लक्षण तथा चिह्नों के वास्तविक महत्त्व का निर्धारण करती है।

**उपचार–** यदि पीड़ा का बाह्यकारण अभी क्रियाशील हो, तो उस कारण का निवारण तुरन्त करना चाहिए, जैसे शरीर के किसी अंग विशेष पर लकड़ी का लट्ठा आदि गिरा हो तो उसे हटाना चाहिए।

जीवन रक्षा तथा पुनः स्वस्थ होने की उन्नति के लिए उपचार किया जाय व दशा को अधिक बिगड़ने से बचाया जाय। श्वास क्रिया की न्यूनता, अधिक रक्तस्राव तथा संक्षोभ की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए।

जब लेश मात्र भी सन्देह हो कि घायल मर गया है या जीवित है तो जब तक चिकित्सा सहायता प्राप्त नहीं हो जाती तब तक उपचार चालू रखा जाय।

**स्थानान्तरण**– जिस शीघ्रता से घायल को चिकित्सक की देखरेख के संरक्षण में लाया जाय उतने जल्दी उसकी चिकित्सा उत्तम ढंग से होती है।

जब तक रोगी का निरीक्षण, चिकित्सक उसी स्थान पर न कर ले, तब तक प्राथमिक सहायक पर ही इस बात का उत्तरदायित्व है कि रोगी अपने घर पहुँच सके या किसी अन्य उचित स्थाई सुरक्षित स्थान तक या चिकित्सक उन परिस्थितियों के अनुसार सर्वोत्तम ढंग से ज्यों ही सम्भव हो सके पहुँचा दिया जाय। रोगी के घर अथवा उसके सम्बन्धियों को कुशलता का संदेश साधारण रूप से भेज देना चाहिए कि क्या हुआ है तथा घायल को कहाँ ले जाया जा रहा है।

**प्राथमिक उपचार करते समय आवश्यक सावधानियाँ–**

१. प्राथमिक सहायक को सहायतार्थ तुरन्त उपलब्ध होना चाहिए।

२. घायल का शान्तिपूर्वक उपचार करें। तीव्र तथा विश्वस्त परीक्षा एवं उपचार, पीड़ा तथा कष्ट को दूर करता है और घाव के प्रभाव को कम करके जीवन रक्षा भी कर सकता है। अधिक लम्बी और विस्तृत परीक्षा पर अधिक समय बिताना रोगी के पुनः स्वस्थ होने के समय को नष्ट कर सकता है।

३. घायल के जीवन को संकट में डालने वाली अवस्थाओं तथा घावों का पूर्ण निदान करने से पहले ही उपचार कर लें। जैसे– १. श्वास क्रिया की न्यूनता, २. तीव्र रक्त स्राव, ३. अधिक संक्षोभ।

४. यदि प्रामाणिक उपकरण उपलब्ध न हो तो प्राथमिक सहायक को चाहिए कि जो उपलब्ध सामग्री है उन पर भरोसा कर आवश्यकतानुसार तैयारी की जाय।

५. वातावरण पर विशेष ध्यान देने की आवश्यता पड़ती है, क्योंकि इनका प्रभाव जो कार्य किया जाना है उस पर पड़ सकता है।

उदाहरणार्थ– क. गिरते हुए मकान, सचल मशीनें, बिजली का प्रवाह, आग, विषैली गैसें तथा ऐसे ही और खतरे।

ख. ऋतु– यदि घटना घर के बाहर हुई हो तथा यदि ऋतु भली हो तो पीड़ित व्यक्ति का उपचार बाहर ही खुले में करना पड़ सकता है, यदि ऋतु अच्छी न हो तो उसे अवश्य ही सुरक्षित स्थान में जैसे भी सम्भव हो ले जाना चाहिए।

ग. सुरक्षित स्थान– समीप के घरों और मकानों को देखिए कि वह भरे हैं या खाली हैं और क्या वह विशेष रूप से लाभदायक हो सकते हैं। जैसे किसी राशन की दुकान अन्यथा छातों, कम्बलों तथा और इसी प्रकार की अन्य वस्तुओं से अस्थाई सुरक्षित स्थान बनाये जा सकते हैं।

घ. प्रकाश– प्रकाश का अभाव हो तो रोगी की चिकित्सा, सन्तोषप्रद नहीं हो सकती और प्राथमिक सहायक को इसे अवश्य प्रदान करना चाहिए।

सहायता– भीड़ को चतुराई से सम्हालना चाहिए। यदि चिकित्सक उपस्थित हो तो उसके आदेशानुसार कार्य किया जाय। यदि वह न हो तो पता लगाया जाय कि क्या कोई प्राथमिक सहायता का जानने वाला उपस्थित है। यदि कोई भी उपलब्ध न हो तो पास खड़े व्यक्तियों का अधिक से अधिक लाभ उठाया जाय। घायल व्यक्ति के साथ उत्साह जनक बातें करके उसे भयहीन कीजिए। उसे बिना हिले डुले लेटे रहने को कहें और उसे बतायें कि वह प्रशिक्षित हाथों में है।

**प्रथमोपचार के आवश्यक नियम–**

१. परमावश्यक कार्य शीघ्रता तथा शान्ति से तथा बिना किसी कोलाहल अथवा भय के कीजिये।

२. यदि श्वास क्रिया रुक गयी हो तो कृत्रिम श्वास दीजिए। प्रत्येक क्षण मूल्य रखता है।

३. प्रत्येक प्रकार के रक्त स्राव को बन्द कीजिए।

४. संक्षोभ से बचाइये या उसका उपचार रोगी को कम से कम हिलाकर तथा कोमलता से हाथ लगाकर कीजिए।

५. बहुत अधिक करने का प्रयत्न न कीजिए, उतना ही कम से कम कीजिए जो जीवन को बचाने के लिए आवश्यक हो तथा दशा को और बिगड़ने से बचा सके।

६. घायल तथा जो उसके आस–पास हों उसको भयहीन कीजिये ताकि उनकी उत्सुकता कम हो।

७. लोगों को आस–पास भीड़ न लगने दें क्योंकि ताजी वायु आवश्यक है।

८. वस्त्रों को अनावश्यक न उतारें।

९. जितनी जल्दी हो सके रोगी को चिकित्सक के पास या चिकित्सालय देखभाल के लिए ले जाने का प्रबन्ध कीजिए।

## १. अस्थिभग्न

**परिभाषा–** किसी भी प्रकार की छोटी या बड़ी अस्थि का किसी प्रान्त से टूट जाना अस्थि भग्न या काण्डभग्न कहलाता है।

**भग्न हेतु–** किसी स्थान से गिर पड़ना, किसी कारण अंग का दबना, लाठी आदि शस्त्रादि प्रहार, हाथ–पाँव आदि अंगों में खिंचाव होना, हिंसक पशुओं के दाँत नख आदि से कट जाने या फाड़ने से या अनेक प्रकार के विशेष आघातों से अस्थियों में अनेक प्रकार के भग्न हो जाते हैं।

**हेतुदृष्टि से भग्न प्रकार– १. प्रधान कारण–** गिर पड़ना या किसी बाह्य कारण से अंग विशेष में पीड़न होना तात्कालिक कारण है।

**गौण कारण –** विशेष प्रकार के रोग का जहाँ स्थानिक एवं सार्वदैहिक विशेष प्रभाव होता है, वहाँ अस्थिरूग्ण कारणों से क्षय को प्राप्त होने से टूट जाती है। जैसे अस्थिक्षय, फिरंग, अस्थिभंगुरता, अस्थिमृदुता (Osteomalacia) अस्थिविद्रधि(Osteomyllitis) तथा फक्क आदि रोगों के कारण। माता–पिता द्वारा बच्चों में आने वाली अस्थिभंगता में पैतृक कारण की प्रमुखता होती है। बच्चे के समय से पूर्व प्रसव के कारण भी अस्थियों में बलहीनता रह जाती है। जो आघात या रोग विशेष से शीघ्र प्रभावित होती है।

**साधारण भग्न–** अस्थि टूट कर दो भाग हो जाते हैं, किन्तु उसके समीप वाले अवयव, मांसपेशी, धमनी, सिरा आदि को कोई आघात नहीं पहुँचता और त्वचा एवं तन्तु के नहीं टूटने से बाहर से दिखलाई नहीं पड़ता।

**संयुक्त भग्न–** इसमें अस्थि के टूटने पर समीप के अवयवों को आघात पहुँच कर अस्थि के टुकड़े मांसपेशी, त्वचा आदि का भेदन कर बाहर आ जाते हैं, जिससे अत्यधिक रक्तस्राव होता है। खुले व्रण मार्ग से विकृत वायु, धूलकण आदि भी चले जाने से पूय उत्पन्न हो जाता है।

**पूर्णापूर्ण भग्न परिचय– माधव निदानोक्त**

**पूर्णभग्न–** इस भग्न में अस्थि टूटकर दो पृथक् भागों में विभक्त हो जाती है।

**प्रकार–** १. कर्कटक, २. अश्वकर्ण, ३. विचूर्णित, ४. अस्थि छल्लित, ५.काण्ड, ६. मज्ञानुगत, ७. अतिपातित, ८. पाटित, ९. मज्ञानुगत, १०. वक्र, ११. छिन्न, १२. विस्फुटित।

**१. कर्कटक–** अस्थियों के भाग टूटकर बीच में से ऊँचे हों और दोनों ओर दबकर केकड़े की आकृति में या ग्रन्थि की तरह हो जाये तो कर्कटक कहलाता है।

**२. अश्वकर्ण–** घोड़े के कान के समान कोई अस्थि टूटकर बाहर निकल जाय, उसे अश्वकर्ण कहते हैं। इसमें अस्थि तनाव से ऊपर उठती है।

**३. विचूर्णित–** अस्थियों का चूर्ण हो जाना तथा शब्द स्पर्श से स्पष्ट पहचान लिय जाय, उसे विचूर्णित कहते हैं। अस्थि ३ या अधिक भागों में टूटती है।

**४. पिच्चित–** अस्थियों के अवयव परस्पर पृथक् होकर बहुशोथ युक्त हों अथवा चपटा हो जाना पिच्चित कहलाता है। इसमें शोथफ अधिक होती है।

**५. अस्थि छल्लित–** अस्थि का कोई भाग शिथिल होकर उखड़कर बाहर निकल जाय या पेशी तनाव से ऊपर उठ जाय उसे छल्लित कहते हैं।

**६. काण्डभग्न–** अस्थिपूर्ण रूप से टूटकर पृथक् हो जाए; किन्तु त्वचा में रहे उसे, काण्ड भग्न कहते हैं। भग्न का ज्ञान अस्थि हिलाने पर होता है।

**७. अतिपातित–** कभी–कभी अस्थि अनेक स्थानों से टूट जाती है, जिसमें अस्थि पूर्णतया कटकर अलग हो जाती है और टूटी हुई अस्थि के किनारे एक दूसरे से अधिक दूर हो जाते हैं। उसे अतिपातित या बहुभग्न भी कहते हैं।

**८. मज्ज्ञानुगत–** अस्थि का कोई अवयव टूटकर अस्थि के भीतर मज्ज्ञा तक पहुँच जाए उसे मज्ज्ञागत भग्न कहते हैं।

**९. विस्फुटित–** अस्थि में दरारें पड़ना या लकड़ी की तरह फट जाना विस्फुटित भग्न कहा जाता है।

**१०. वक्र–** आर्द्र वृक्षकाण्ड को मोड़ने पर आधे भाग के फटने के समान अर्थात एक पार्श्व टूट जाय तथा दूसरा अस्थि के साथ जुड़ा रहे वह वक्र भग्न कहलाता है। बच्चों की अस्थियाँ कोमल होने से यह भग्न प्रायः देखा जाता है।

**११. छिन्न–** किसी कारण से अस्थि का एक पार्श्व से छिन्न हो जाना तथा दूसरी ओर लगा रहना छिन्न कहलाता है।

**१२. पाटित–** जब कोई अस्थि अनेक भागों में दरार के रूप में टूट जाती है, तब उसे पाटित भग्न कहते हैं। भग्न स्थान पर तीव्र वेदना होती है।

**अपूर्ण भग्न–** उपरोक्त ९, १०, ११,१२ (विस्फुटित, वक्र, छिन्न, पाटित) ये अपूर्ण भग्न के भेद हैं। अपूर्ण अस्थिभग्न में अस्थि टूट तो जाती है; किन्तु उसके टुकड़े पृथक्–पृथक् नहीं होते। यह भग्न कई स्वरूपों वाला होता है।

## काण्ड भग्न लक्षण

**१. अभिघातज चिह्न–** अंग की प्राकृत अवस्था में परिवर्तन प्राप्त होना। बाह्य आघात में त्वचा आदि का फटना, अस्थि का बाहर निकलना तथा आभ्यान्तर में स्थान का दबा हुआ होना, उभार होना आदि प्रमुख हैं।

**२. शोथ–** अस्थि भग्न जहाँ भी हो प्रायः शोथ (सूजन) की उपस्थिति होती है। शोथ का स्वरूप आघात की स्थिति पर निर्भर करता है। अर्थात् अस्थि के अधिक मात्रा में भग्न होने पर शोथ अधिक होता है। सामान्य भग्न में शोथ साधारण होता है।

**३. अत्यन्त पीड़ा**— अस्थि भग्न स्थान पर असह्य वेदना होती है। यह वेदना अस्थि आवरणों के विदीर्ण होने से होती है व अस्थि भग्न रेखा पर पायी जाती है। गहराई में स्थित अस्थियों में पीड़ा सामान्य होती है। प्रायः कोमल भाग में वेदना तीव्र होती है। अंग को हिलाने पर वेदना की तीव्रता बढ़ जाती है।

**४. भग्न ध्वनि**— अंग को पकड़कर हिलाने से, टूटे हुए पृष्ठों के परस्पर रगड़ने से रगड़ की ध्वनि सुनाई देती है। किसी स्थान पर सुनाई कम भी दे तो हाथों को इस रगड़ की प्रतीति अवश्य हो जाती है।

भग्न प्रान्तों के विचित्र स्थिति होने पर, अर्थात् मज्ञानुप्रवेश या अस्थि पर चढ़ाव के कारण ध्वनि नहीं सुनाई देती।

**५. स्पर्श पीड़ा**— अस्थि भग्न स्थान को स्पर्श करने से वेदना होती है। जब अस्थियों का स्थिरीकरण आदि प्रक्रिया में भग्न प्रान्तों को अपने स्थान पर लाया जाता है अथवा अंग को हिलाया डुलाया जाता है, उस समय असह्य वेदना होती है।

**६. विरूपता**— टूटे हुए भाग के लटकने से अथवा उनके विस्थापन के कारण कुछ मात्रा में विरूपता आ जाती है। इसे विषमांगता भी कहा जाता है।

**७. अस्वाभाविक गति**— टूटे हुए भग्न को हिलाने पर अथवा स्थिर पकड़ने पर विपरीत–विपरीत स्थान में गति करता है। इसका ज्ञान सावधानी से करना चाहिए क्योंकि नाड़ियों में आघात का भय रहता है।

**८. नीलिमा**— अस्थि भग्न के बाद समीप की धातुओं के क्षत होने पर रक्त स्राव होना स्वाभाविक है, अतः भग्न स्थान के नीचे की त्वचा में जो रक्तिमा द्रव एकत्रित हो जाता है, वह नीले रंग का दिखाई पड़ने लगता है। इसकी चिकित्सा न करने पर विस्फोट की स्थिति आ जाती है।

**९. स्वकर्म गुण हीनता**— तीव्र अस्थि भग्न होने पर उस अंग की कार्यक्षमता नष्ट हो जाती है। यदि उसका प्रभाव असह्य वेदना युक्त है तो सम्पूर्ण शरीर में भी कार्यहीनता आ जाती है।

**१० स्तब्धता**— अवयवों में भग्न होने पर अथवा आघात की तीव्रता के कारण (प्रायः दुर्घटना युक्त अस्थि भग्न में) रक्तस्राव अधिक होता है। बाह्य या आभ्यन्तर दोनों ही प्रकार से रक्तस्राव की अधिकता के कारण शरीर में स्वाभाविक रक्त में न्यूनता आ जाती है। इसी के कारण शरीर में स्तब्धता उत्पन्न हो जाती है।

आभ्यन्तर क्षति के कारण रक्तस्राव प्रकट नहीं होता; तथापि निकट के अवयवों में क्षति के कारण रोगी के हीन बल होने पर स्तब्धता शीघ्र आती है। इस कारण कुछ घण्टों तक वेदना का अनुभव नहीं होता, तथापि परीक्षण में इसका ध्यान अवश्य रखना चाहिए।

**११. सुख की अनुभूति न होना–** भग्न से पीड़ित को किसी भी प्रकार एवं किसी भी रूप में सुख नहीं मिल सकता।

## भग्न परीक्षा

भग्न की सम्भावना होने पर इस का चित्र लेने से स्थिति स्पष्ट हो जाती है।

**भग्न की प्राथमिक प्रक्रिया (प्रथमोपचार)**

१. भग्न होने पर यथाशीघ्र साधन जुटाकर भग्न स्थान के ऊपर एवं नीचे की सन्धि को स्प्लिन्ट से बाँध देना चाहिए। बन्धन द्वारा भग्न स्थान को यथोपलब्ध साधनों से स्थिर करना चाहिए। इससे वेदना शान्त होगी एवं भग्न भाग में हलचल नहीं होगी।

२. श्वासावरोध का निवारण करें।

३. स्तब्धता

४. हृदयावसाद की स्थिति में दुग्ध, जल आदि पिलाना चाहिए।

५. सान्त्वना देनी चाहिए।

६. रक्तस्राव को यथाविधि रोकने का उपाय करना चाहिए।

७. यदि अभ्यास है तो अस्थि को अपने स्थान पर बिठाकर खपच्चियाँ बाँध देनी चाहिए।

८. बन्धन एवं स्थिरीकरण के लिए वस्त्रादि प्राप्त नहीं होने पर रोगी के कपड़ों का निःशंक प्रयोग कर लेना चाहिए। विविध अंगों में होने वाले भग्न की यथाविधि तात्कालिक क्रियाएँ करनी चाहिए।

**विविध अंगों में होने वाले भग्न पर प्रक्रियाएँ**

१. जंघास्थि भग्न में पैर के दोनों तरफ लकड़ी (कुशा) बाँध देनी चाहिए।

२. जानु संधि के समीप के भग्न में जंघास्थि भग्न की विधि का पालन करें। स्वस्थ अंग को दूसरे अंग के साथ बाँधने से आराम मिलता है।

३. पाँव की अंगुली में (प्रायः फुटबाल के खेल में) भग्न होने पर पार्श्व की स्वस्थ अंगुली के सहारे भग्न अंगुली को कपड़े की पट्टी या टेप से बाँध देना चाहिए।

४. पाँव की (पादतल अस्थि) में भग्न हो जाने की स्थिति में भग्न स्थान पर रुई रखकर या कपड़े की कबलिका बनाकर भग्न अस्थि को गाँठबन्ध से बाँध देना चाहिए।

५. गुल्फ पर आघात एवं भग्न कि स्थिति में कोई संधानकारी प्लास्टर से अथवा लकड़ी के टुकड़े को साथ रखकर घुटने तक बाँधना चाहिए।

६. गुल्फ समीपस्थ भाग में भग्न होने पर दोनों पार्श्वों में कुशा रखकर जानुतक बाँध देना चाहिए।

७. उरु अस्थि के भग्न होने पर पाँव के ऊपर तक लम्बी कुशा का प्रयोग करना चाहिए तथा स्प्लिन्ट से अन्य अंग को भी साथ बाँध देना चाहिए।

८. श्रोणि की अस्थि भग्न होने पर अथवा त्रिकास्थि या अनुत्रिकास्थि में भग्न होने पर कमर के तथा नितम्ब के चारों तरफ चौड़ी पट्टी बाँध देनी चाहिए।

९. वक्ष एवं कटि प्रदेश की अस्थियों में भग्न होने पर बिना पीठ के बल सहारा दिए हिलाना नहीं चाहिए। स्ट्रेचर पर भी सावधानी से सुलाना चाहिए।

१०. गले की कशेरुकाओं को भग्न होने पर कन्धों एवं शिर के बीच में गोल तकिया लगाकर सीधा लिटा देना चाहिए।

११. पार्शुका भग्न होने पर वक्ष प्रदेश पर चारों तरफ पट्टी बाँध देनी चाहिए।

१२. अंशफलक भग्न होने पर पट्टी का स्वस्तिक बन्ध बाँधना चाहिए।

१३. अंश भग्न होने पर यथा सम्भव उत्संग बन्ध बाँधना चाहिए।

१४. बाहुनलक के उर्ध्वभाग मणिबन्ध संधि भग्न में भी प्राथमिक यथावश्यक बंध बाँधना चाहिए।

१५. हन्वस्थि या अधोहन्वस्थि भग्न होने पर रोगी को पीठ के बल लिटा दें एवं पंचाङ्गी बन्ध बाँध देना चाहिए।

रोगी की सावधानी से परिचर्या करते हुए अभिघात स्थान से रोगी को चिकित्सालय तक पहुँचाने में भी पूर्ण सावधानी बरतनी चाहिए।

अस्थि त्वचा विदीर्ण कर बाहर निकल आने पर अथवा त्वचा में अस्थि का उभार हो जाने पर अस्थि का यथास्थान बिठाने, रक्तस्राव रोकने एवं रोगी को पूर्ण सान्त्वना देते हुए स्थिति के अनुसार उपचार करना चाहिए।

## अस्थिच्युति (सन्धिमोक्ष)

**परिभाषा–** सन्धि निर्माण करने वाले अस्थि भागों की स्थानच्युति को सन्धिमोक्ष या अस्थिच्युति कहते हैं।

**कारण–** गिर पड़ने से, दब जाने से, प्रहार से, फेंकने से, हिंसक तथा अहिंसक पशुओं के मुख में पकड़ने आदि अभिघातों से सन्धिमोक्ष हो जाता है।

**लक्षण–** जिस सन्धि का विश्लेष होता है वह सभी प्रकार से क्रियाहीन हो जाती है। फैलाने, सिकोड़ने तथा घुमाने में पीड़ा तथा स्पर्शासह्यता आदि लक्षण सन्धि मोक्ष में प्राप्त होते हैं। उपरोक्त लक्षणों के अतिरिक्त जिन लक्षणों का ज्ञान किया जाता है उनमें–

१. अंग स्वरूप की विकृति
२. सन्धि स्थान पर च्युति के कारण गड्ढा सा बन जाता है।
३. अन्य स्थानों पर त्वचा में उभार की प्रतीति।
४. शोथ।
५. स्तब्धता
६. गति का सीमित होना।
७. मृदु तन्तु शोथ।
८. पेशियाँ पार्श्वस्थ या स्थानच्युत हो जाती है।
९. रक्तवाहिनियों एवं नाड़ियों का पिच्चित या दबे हुए होना।
१०. भग्न ध्वनि भी कभी–कभी प्राप्त होती है।

**सन्धि मोक्ष प्रकार–** १. उत्पिष्ट, २. विश्लिष्ट, ३. विवर्तित, ४. अवक्षिप्त, ५.अतिक्षिप्त, ६. तिर्यक क्षिप्त

**उत्पिष्ट–** इसमें सन्धि विश्लेष के साथ सन्धि में भाग लेने वाली अस्थि का भग्न भी होता है। उत्पिष्ट में चूर्णित का भाव लेना चाहिए। दूसरे रूप में **"उत्पिष्टं द्वाभ्यामस्थिभ्यां सन्धौ घर्षणम्"** अर्थात् सन्धि में भाग लेने वाली अस्थियों के सिरों की संयोजक चक्रिका नष्ट हो जाने के कारण परस्पर अस्थियों के घर्षण का नाम ही उत्पिष्ट होता है। काण्ड भग्न के समान इसमें भी शोथ की उपस्थिति होती है। जो अस्थियों के परस्पर रगड़ के कारण उत्पन्न होती है। रात्रि में पीड़ा विशेष रूप से होती है यह भग्नयुक्त सन्धिच्युत कहलाती है।

**विश्लिष्ट– विश्लिष्टके तौ च रुजा च नित्यम्।**

इस सन्धिमोक्ष में निरन्तर वेदना बनी रहती है। साथ ही सन्धि की निष्क्रियता एवं शोथ भी होता है। इसमें सन्धिविश्लेष अत्यल्प होता है।

**विवर्तित–** बलपूर्वक अंग को मरोड़ने या मुड़ जाने के कारण परोक्षाभिघात से सन्धि का बाहर को वाम या दक्षिण पार्श्व में खिसकना विवर्तित कहा जाता है। इसी के कारण अंगविषमता (टेढ़ापन) तथा पार्श्व में तीव्र वेदना होती है। स्कन्ध एवं वंक्षण सन्धि में यह च्युति विशेष रूप से देखी जाती है।

**अवक्षिप्त–** इसमें पूर्ण सन्धि मोक्ष नहीं होता; किन्तु सन्धिगत स्थान की दो अस्थियों में से एक अस्थि दूसरे के ऊपर चढ़ जाती है, जिससे अस्थियों में विषम रूप से शूल एवं तीव्र वेदना होती है, वह अवक्षिप्त च्युति कहलाती है। तीव्र पीड़ा का कारण सन्धिकोष का कण्डरा संकोच एवं विछारण है।

**अतिक्षिप्त–** इसमें दोनों ही अस्थियाँ स्थानच्युत हो जाती है। परस्पर अति दूर हो जाने के कारण ही वेदना की अधिकता पायी जाती है। इसमें मांसपेशियाँ, सिर एवं धमनी भी क्षत हो जाती है।

क्षिप्ततिर्यक– इसमें पूर्ण सन्धि विश्लेष होता है। एक अस्थि पार्श्वमुक्त हो जाने के कारण वेदना की अधिकता होती है।

## 'उपचार' प्राथमिक सहायता

१. उतरे जोड़ को चढ़ाने का प्रयत्न न कीजिए, तुरन्त चिकित्सा सहायता उपलब्ध करानी चाहिए।

**क. अंग के लिए**

१. जब घटना घर से बाहर हुई हो तो अंग को स्थिर करके सहारा दीजिए और उसे सर्वोत्तम सुखदायक स्थिति में सुरक्षित कर दीजिए और ले जाने में जो हिलडुल होती है, उसके प्रभाव को कम करने के लिए गद्दियाँ लगाइये।

जब घायल घर में ही हो तो उसे आराम कुर्सी या पलंग पर लिटाकर सबसे अधिक सुखदायक स्थिति में कर दीजिए। अंग को गद्दियों या तकियों से सहारा दे दीजिए।

**ख. निचले जबड़े के लिए**

१. कृत्रिम दांत निकाल दीजिए।

२. एक पट्टीलेकर जबड़े को सहारा दीजिए और गाँठ सिर की चोटी पर लगा दीजिए।

उखड़े जोड़ों के उपचार में उनको पूर्ण रूप से स्थिर करने की आवश्यकता और अधिक जोर से नहीं करनी चाहिए।

सन्धिच्युत के साथ भग्न होने पर भग्न जैसा उपचार (प्राथमिक सहायता) करना चाहिए।

## ३. रक्तस्राव

रक्तस्राव या रक्त प्रवाह अधिक विषम या सूक्ष्म हो सकता है। विषम रक्तस्राव एक फटी हुई धमनी या शिरा या दोनों से होता है। अधिकांश धमनियाँ तथा शिराएँ पास–पास पड़ी होती हैं, इसलिए प्रायः दोनों ही एक साथ चोट खा जाती हैं।

सिस्टैमिक परिभ्रमण की धमनी से निकला रक्त चमकीला लाल होता है। यदि यह धमनी त्वचा के निकट होती है तो हृदय की धड़कन के साथ–साथ रक्त झटके से बाहर निकलता है। शिरा से निकला रक्त गहरा लाल होता है और वह लगातार बँधी हुई धारा में बहता है। धमनी तथा शिरा का मिला हुआ रक्त घाव

के तल से उमड़ता हुआ निकलता है। सूक्ष्म रक्तस्राव प्रायः घायल कोशिकाओं से होता है तथा उनसे लगातार वेग से निकलता है या धीरे–धीरे रिसता है।

**रक्तस्राव के साथ घावों के उपचार के साधारण नियम–**

१. रोगी को अनुकूल आसन में रखिए। ध्यान रहे कि बैठी तथा लेटी अवस्था में रक्तस्राव कम होता है।

२. रक्त बहते हुए अंग को थोड़ा ऊपर उठाकर रखिए (सिवाय हड्डी टूट के।)

३. घाव को जहाँ तक हो सके कम से कम वस्त्र उतार कर खुला कर दें।

४. यदि घाव के ऊपर रक्त के ढोके बन चुके हों तो उन्हें न छेड़िए।

५. घाव में यदि कोई बाहरी वस्तु दिखाई पड़े जो सरलता से हटाई या साफ पट्टी से उठाई जा सके तो हटा देना चाहिए।

६. दबाव डालिए तथा उसे १. सीधा, २. कुटिल रीति से बनाये रखिए।

७. मरहम पट्टी, गद्दी तथा पट्टी लगा दीजिए।

८. घायल भाग को स्थिर कर दीजिए।

जब घाव संधि के निकट हो तो जोड़ को भी यदि आवश्यक हो तो कमठियाँ लगाकर स्थिर कर दें। जैसे की घुटना।

**सीधे दबाव से रक्तस्राव पर नियंत्रण–**

१. जिस घाव के भाग से रक्त निकल रहा हो उस पर गद्दी लगाकर अंगूठे अथवा अंगुलियों से सीधे दबाव डालिए। जब घाव में बाहरी वस्तु पड़ी हो या टूटी हुई हड्डी उभरी हो तो उसके साथ–साथ सटाकर दबाइये न कि ऊपर से। यदि रक्त प्रवाह का स्थान दिखाई न पड़े तो फिर सारे घाव के क्षेत्र को पकड़कर कस कर दबाइये इससे प्रवाह बन्द हो जायगा और मरहम पट्टी तैयार करने का अवसर मिल जायगा।

२. जितनी जल्दी हो सके निम्नलिखित रीति से सीधा दबाव बनाये रखिये।

३. जब कोई बाहरी वस्तु अथवा उभरी हुई हड्डी न हो तो एक पर्याप्त साइज की पट्टी तथा गद्दी घाव पर रखिए और कस कर दबाव दें तथा पट्टी से स्थिर कर दें।

गहरे घावों पर अधिक गद्दी की आवश्यकता पड़ सकती है। जिसे पहले गद्दी के ऊपर रख देते हैं; ताकि मरहम पट्टी घाव की गहराई तक पहुँच सके। इस बात के लिए निश्चित होना आवश्यक है कि गद्दी त्वचा के समतल से अधिक ऊँची रहे; ताकि फटी हुई रक्त–नालियों पर पर्याप्त दबाव पड़ सके।

**ख. जब बाहरी वस्तु सरलता से नहीं हटाई जा सकती या उभरी हुई टूटी हड्डी घाव में हो तो–**

१. मरहम पट्टी से घाव को ढक दीजिए और गद्दी घाव के आसपास इतनी ऊँची बनाइये; ताकि बिना बाहरी वस्तु या उभरी हड्डी पर दबाव पड़े यूँ ही दबाव पड़ सके।

२. गद्दी को कस कर स्थिर कर दें।

बाहरी वस्तु पर तथा उभरी हुई टूटी हड्डी को दबाव से बचाने के लिए यह लाभदायक हो सकता है कि पट्टी (कर्णरेखावत) तिरछी बाँधी जाए। खोपड़ी के ऊपरी भाग के घावों में जिनमें हड्डी टूटी हो या बाहरी वस्तु पड़ी हो उन पर एक छल्लेदार गद्दी लगानी चाहिए। पट्टी उतनी ही कस कर बाँधनी चाहिए, जिससे रक्त प्रवाह रुक जाय। यदि रक्त अब पट्टी में से सोख जाय, तो ऊपर से और गद्दी लगा दीजिए, परन्तु पहली गद्दियों तथा पट्टी को न उतारिये।

**कुटिल दबाव से रक्तस्राव पर नियंत्रण–**

क. दबाव स्थान पर।

ख. सिकोड़ने वाली पट्टी से।

**दबाव स्थान–** यदि रक्तस्राव सीधे दबाव से न रुके या जब सीधा दबाव सफलतापूर्वक देना असम्भव हो तो उपयुक्त दबाव स्थानों पर कुटिल दबाव (अप्रत्यक्ष) डालिये। दबाव स्थान वह है जहाँ एक धमनी को उसके नीचे हड्डी के ऊपर दबाया जा सके; ताकि रक्त उस स्थान से आगे न जा सके।

**कैरोटिड दबाव स्थान–** कैरोटिड धमनियाँ महाधमनी की शाखा है और वायुनली के बगल से दोनों ओर ऊपर जाकर सिर के क्षेत्र को रक्त प्रदान करती हैं। दबाव डालने के लिए अंगूठे को स्वरकोश तथा (स्टेरनों–मेस्टाएड) पुट्ठे के बीच में स्थित गड्ढे में रखें। यह पुट्ठा गर्दन के दोनों ओर ऊपर तक जाता है। अब धमनी को घाव के समतल से नीचे की ओर दबाइये।

**अक्षकास्थि के नीचे दबाव–** सबक्लेवियन (अक्षकाधरा) धमनियाँ महाधमनी की शाखा हैं और वह अक्षकास्थि के हड्डी के अन्दर की ओर के सिरों के पीछे से निकल कर पहली पसली के सामने से होती हुई बगलों को जाती है। इन पर दबाव डालने के लिए घायल की गर्दन तथा छाती का ऊपर वाला भाग खुला करके उसके कंधों को नीचे दबा दें और सिर की चोट खाई ओर टेढ़ा कर दें। अक्षकास्थि के ऊपर के गड्ढे में एक अंगुठे को दूसरे के ऊपर रखकर दबाएँ और धमनी को पहली पसली के ऊपर दबा दें।

**कक्षीया धमनी दबाव(ब्रेकियल दबाव स्थान)**– कक्षीया धमनियाँ द्विसिरस्का पुट्ठों के भीतरी किनारे के साथ–साथ स्थित है। कोट के बाजू की भीतरी सीवन ही उसकी ठीक स्थिति बताती है। यह धमनियाँ दोनों उर्ध्व शाखाओं को रक्त पहुँचाती है। दबाव देने के लिए रोगी के बाजू से नीचे अपनी अंगुलियाँ ले जाइए और धमनी को प्रगंडास्थि के साथ दबाइये।

**और्वी धमनी दबाव स्थान**– फिमोरल धमनियाँ वह हैं जो आगे चलकर इलियक धमनियाँ बन जाती हैं तथा जो पेट की धमनी की शाखाएँ हैं। यह जाँघ के मोड़ के ठीक मध्य बिन्दु में प्रतीत होती हैं और वहाँ से दो तिहाई मार्ग तक घुटने के भीतर की ओर चलती है, जहाँ से वह घुटनों के पीछे होकर निकल जाती है। यह दोनों निचले अंगों को रक्त प्रदान करती है। इन पर दबाव डालने के लिए घायल के घुटने को मोड़कर दोनों हाथों से उसके उरु को पकड़कर सीधा नीचे को जांघ के मध्य से दोनों अंगुठों से दबाइये। अंगुठा एक के ऊपर दूसरा पड़ा हो तथा कुल्हे के किनारे से लगा हो।

**सिकुड़नी पट्टी (Constrictive Bandage)–**

यदि थोड़े समय से अधिक काल के लिए कुटिल दबाव बनाए रखने के लिए आवश्यकता हो तो अंग के आस–पास सिकुड़ने वाली पट्टी लगा दें। यह एक संकरी तिकोनी पट्टी या लचीली पेटी या पट्टी हो सकती है, परन्तु एक रबड़ की पट्टी का प्रयोग उत्तम है; जो प्रायः ४ फुट लम्बी और ढाई इंच चौड़ी होती है और एक सिरे पर जोड़ के साथ फीते लगे रहते हैं। सिकुड़ने की पट्टी आसानी से दिखाई पड़नी चाहिए और उस तक आसानी से पहुँच सके। यदि वह इतनी कसी हुई न हो तो वह शिराओं से रक्त के बहाव को तो बंद कर देगी; परन्तु धमनियों द्वारा रक्त उस क्षेत्र में आता–जाता रहेगा और रक्त उस स्थान में इकट्ठा हो जायेगा तथा रक्त स्राव बढ़ जायेगा। अग्रबाहु या घुटने से नीचे जहाँ दो–दो हड्डियाँ हैं वहाँ पट्टी लगाकर रक्तस्राव बंद करना कठिन तथा असम्भव हो सकता है। इसलिए सिकुड़ने वाली पट्टी को लगाने का सर्व उचित स्थान ऊपरी बाजू के मध्य या उरु के ऊपरी तथा मध्यम तिहाई के मिलाप स्थान पर है।

सिकुड़ने वाली पट्टी को बराबर प्रति १५ मिनट के अन्दर ढीली करते रहना आवश्यक है। यदि रक्त प्रवाह बंद न हुआ हो तो पट्टी पुनः कस दी जा सकती है। यदि प्रवाह बंद हो गया हो तो ढीली की गयी पट्टी को ऐसी दशा में छोड़ देना चाहिए कि जिसमें यदि आवश्यकता पड़े तो तुरन्त फिर कस दिया जा सके।

जब सिकुड़ने वाली पट्टी लगाई जाय तो उसे न तो कभी दूसरी पट्टियों से ढकना चाहिए और न कभी स्प्लिन्ट के नीचे लगाना चाहिए।

यदि घायल व्यक्ति को चिकित्सालय ले जाना हो तो एक लेबिल साथ लगा देना चाहिए, जिससे ध्यान इस ओर आकर्षित किया जा सके कि यह पट्टी लगाई गयी है और उसको लगाने का ठीक समय अथवा अन्तिम बार जब ढीली की गयी थी उस समय भी लिखा रहे। जब कोई अंग कट कर अलग हो गया होता है, तो बिना समय नष्ट किए सीधा दबा देना चाहिए; किन्तु एक सिकुड़न वाली पट्टी तुरन्त ऊपर लिखी रीति के अनुसार बाँध देनी चाहिए।

**विशेष प्रकार के घाव—**

**क.— जब भीतरी अंग बाहर न निकल रहे हों—**

१. रोगी को उसकी पीठ के बल लिटा कर घुटने मोड़ दीजिए। उसका सिर तथा कन्धे उठाकर इसी स्थिति में सहारा दिये रखिए।

२. घावों के उपचार के लिए जहाँ तक हो सके साधारण नियमों का पालन कीजिए।

३. मुँह द्वारा कुछ मत दीजिए।

**ख. जब भीतरी अंग जैसे आँते घाव से बाहर निकल रहे हों—**

१. रोगी को पीठ के बल लिटाकर घुटने मोड़ दीजिए, उसका सिर तथा कन्धे उठाकर इसी स्थिति में सहारा दिये रखिये।

२. अंगों को अन्दर की ओर मत दबाइये, परन्तु सारे क्षेत्र को लिन्ट के एक बड़े टुकड़े या साफ नये तौलिये से ढक दीजिए।

३. घायल को गरम रखिए; परन्तु पेट के ऊपर अनावश्यक बोझ न डालिए। गरम पानी की बोतलों का प्रयोग न करें।

४. मुँह द्वारा कुछ मत दीजिए।

५. घायल को जितनी जल्दी हो सके चिकित्सालय ले जाइये।

**छाती के चुसैले घाव—** छाती में घाव हो जाने से उसके द्वारा छाती की खोह में हवा सीधी जा सकती है, जो रोगी के श्वास लेने से अन्दर खींच जाती है तथा बाहर धकेली जाती है। यह अधिक गम्भीर परिस्थिति है। घाव को मरहम पट्टी से ढ़ककर गद्दी लगा दें और कस कर पट्टी बाँध दें।

**विशेष स्थानों से रक्तस्राव—**

**भीतरी अंगों से रक्तस्राव—** चोट लगने पर भीतरी अंगों से रक्त प्रवाह जैसे कुचले जाना, कुल्हा, खोपड़ी या पसली की हड्डी टूट जाना, संगीन आदि की

नोक से या गोली लगने इत्यादि से आरम्भ हो जाता है अथवा रोग से भी हो सकता है। जिसका कोई बाहरी कारण दिखाई न पड़े।

भीतरी रक्तस्राव– क. प्रत्यक्ष, ख. अप्रत्यक्ष।

**प्रत्यक्ष– भीतरी अंगों से रक्तस्राव निम्नलिखित परिस्थितियों में प्रत्यक्ष हो जाता है।**

१. **फेफड़ों से–** रक्त खाँसी द्वारा बाहर निकल आता है। यह चमकीला लाल तथा झाग वाला होता है।

२. **आमाशय से–** रक्त वमन द्वारा बाहर निकलता है। यह कभी–कभी पिसी काफी के आकार का होता है।

३. **ऊपरी आँतों से–** रक्त मल के साथ मिला रहता है और मल को गाढ़ा काला बना देता है।

४. **निचली आँतों से–** रक्त मल में प्राकृतिक आकार का होता है।

५. **गुर्दों से–** रक्त मूत्र के साथ निकलता है जो धुँएदार या लाल रंग का होता है।

६. **मूत्राशय से–** रक्त मूत्र में रहता है जो बहुधा कठिनाई से बाहर निकलता है।

**भीतरी अंगों से रक्तस्राव निम्नलिखित परिस्थितियों में अप्रत्यक्ष रूप से होता है।**

१. हड्डी की टूट के साथ तन्तुवर्ग में रक्त स्राव (जलने को छोड़कर शेष अधिकांश चोटों के तुरन्त बाद जो विषम आघात होता है वह बहुधा सदा तन्तु वर्ग में या शरीर के खोहों में रक्त प्रवाह हो जाने से होता है।)

जिगर तिल्ली से रक्त स्राव पेट की खोह में होता है; परन्तु शरीर के बाहर नहीं निकलता। इस प्रकार का रक्त स्राव अधिक भयानक हो सकता है और जहाँ रक्तस्राव के लक्षण तथा चिह्न दिखाई पड़े तो इसका सन्देह होना चाहिए। ऐसा जिगर, तिल्ली के क्षेत्र में कुचले जाने या धक्का लगने से हो सकता है।

**अप्रत्यक्ष अन्तःस्राव के चिह्न तथा लक्षण–**

१. चक्कर, शिथिलता– विशेषकर जब रोगी सीधा खड़े रहने या बैठने आदि की दशा में हो।

२. होंठ और मुँह का पीला पड़ जाना।

३. ठंडी, गीली, चमड़ी ।

४. प्यास जो अधिक हो सकती है।

५. व्यग्रता–घायल उत्तेजित तथा बातूनी हो सकता है।

६. धमनी की धड़कन मन्द तथा अधिक तेज होती जाती है और कलाई पर अनुभव भी नहीं की जा सकती।

७. श्वास क्रिया तेज तथा कठिनाई से होती है और ठण्डी श्वास और जम्हाई आती है।

८. श्वास लेने के लिए क्लेश भरा परिश्रम, घायल अपने हाथों को इधर–उधर पटकता है, कपड़ों को नोचता है और हवा को पुकारता है।

९. अचेत अवस्था– यह चिह्न तथा लक्षण तभी होते हैं, जब रक्त प्रवाह देखा जा सकता है; परन्तु जब बाहरी घाव या प्रत्यक्ष भीतरी रक्तस्राव हो तो निदान करने के लिए इनको देखने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती।

यह सभी चिह्न–लक्षण प्रतिष्ठित आघात में उपस्थित होते हैं; परन्तु वायुभूख, विषम प्यास तथा क्लेश इस बात की निशानी है कि भीतरी रक्तस्राव हो रहा है। यह दशा अत्यन्त भयानक है और इसलिए इसे प्रधानता देनी चाहिए।

**अन्तःरक्तस्राव के प्रथमोपचार–** १. रोगी को जितनी जल्दी हो सके चिकित्सालय पहुँचा दीजिए। एक नोट लगा देना चाहिए कि भीतरी रक्तस्राव की आशंका है।

२. मुँह द्वारा कुछ भी मत दीजिए।

**गाल, जीभ, मसूड़ों तथा दाँत के गड्ढों से रक्तस्राव–** यदि किसी भी इन स्थानों से रक्तस्राव हो रहा हो तो आमाशय या फेफड़ों के रक्तस्राव का धोखा न खाना चाहिए।

यदि गालों तथा जीभ के अगले भाग से अधिक रक्तप्रवाह हो रहा हो तो उस भाग को साफ लिंट के टुकड़े से अंगुली और अंगूठे के बीच पकड़ कर दबा दें।

यदि रक्त स्राव दाँत के गड्ढे से हो रहा हो, तो गड्ढे में साफ लिंट का टुकड़ा या रुई का टुकड़ा डाल कर भर दें और उसके ऊपर एक छोटा कार्क या कोई और उपयुक्त साइज की वस्तु रख दें और घायल से कहें बंद करके उसको दबा लें।

**नाक से रक्तस्राव–**

१. घायल को सीधा करके हवादार स्थान पर, जैसे खिड़की के सामने, सिर जरा आगे को झुका कर बिठा दें।

२. गर्दन तथा छाती पर से सभी कसे हुए वस्त्र खोल दें।

३. उसे मुँह खोले रखने को कहें तथा नाक से श्वास लेने के लिए वर्जित करें।

४. नाक को कड़े भाग से नीचे के हिस्से को चुटकी लेकर पकड़ लें।

५. घायल को नाक मत सिनकने दें।

६. नाक में कुछ डाल कर बन्द करने का प्रयत्न न करें।

**कान की नली (मार्ग) से रक्तस्राव–** कान की नली से रक्तस्राव से प्रायः जान पड़ सकता है कि खोपड़ी के धरातल की हड्डी टूटी है।

१. रोगी को लिटाकर सिर थोड़ा सा उठा दें।

२. कानों में कुछ डाल कर बन्द करने का प्रयत्न न करें।

३. चुटैल कान की ओर सिर को झुका दें और कान के ऊपर हल्की सी सूखी पट्टी कर दें।

**हथेली से रक्तस्राव–** हथेली से रक्तस्राव विषम हो सकता है; क्योंकि इसमें कई एक धमनियाँ आपस में मिलती हैं। जब कोई प्रत्यक्ष बाहरी वस्तु न हो तो रोगी की अंगुलियों को पट्टी तथा छोटी से गद्दी के ऊपर मोड़कर सीधा दबाव बनाये रखा जा सकता है और अंगुलियों को कस कर उसी में बाँधा जा सकता है। गद्दी बहुत छोटी तथा कड़ी होनी चाहिए– एक दो इंच की गोल पट्टी अधिक उपयुक्त है।

गद्दी को मरहम पट्टी के ऊपर हथेली में रखिए और अंगुलियों को गद्दी के ऊपर मोड़ कर मुट्ठी बना दीजिए। कलाई के पीछे की ओर एक चौड़ी तह लगी तिकोनी पट्टी का मध्य भाग रखें। अन्तिम सिरे को अंगूठे की ओर रखकर तिरछी करके मुट्ठी के सामने ले जाएँ और पीछे से लेकर वापिस अंगुठे की ओर कलाई के पीछे ले जाएँ। अब दूसरे सिरे को तिरछा करके मुट्ठी के सामने दूसरी दिशा में ले जाएँ। अन्त में दोनों सिरों को कलाई के सामने लाकर आर–पार करके कलाई के पीछे बाँध दें।

तिकोनी झोली लगाकर सहारा दे दें।

**फूली हुई शिराओं से रक्तस्राव–** जब उरु के भीतर के सिराओं के कपाट कार्य करने में असमर्थ हो जाते हैं तब पैर की सिराएँ फूल जाती हैं। दबाव पीछे को पड़ता है और शिराएँ बड़ी हो जाती हैं, जिससे रक्त का कुण्ड सा बन जाता है।

पैर में किसी फूली हुई सिरा के फट जाने से विषमरक्तस्राव हो जाता है और यदि उसे तुरन्त रोका न जाय तो उससे मृत्यु हो सकती है।

१. घायल को पीठ के बल लिटा कर टांग को जितना ऊँचा किया जा सके उठा दीजिए।

२. एक साफ गद्दी रक्त प्रवाह हो रहे भाग पर लगा कर कस कर बाँध दीजिए।

३. कोई सिकोड़ने वाली वस्तु पहनी हो जैसे गैलेस जिनसे रक्त परिभ्रमण रुक सकता है, उनको ढीला कर दीजिए।

४. टाँग को उठाये रखिए।

## ४. अग्निदग्ध

### जलने तथा खौलते पानी से झुलसने के घाव

**जलने के घाव निम्न कारणों से होते हैं–** १. सूखी गरमी से– जैसे आग, तपे हुए धातु के टुकड़े या सूर्य से।

२. अधिक ऊँची क्रम की विद्युत् प्रवाह के साथ छू जाने से या बादलों से बिजली गिरने से।

३. रगड़ से जैसे किसी घूमते चक्के के साथ लग जाने से या तेज चल रहे रस्से या तार के साथ लगने से।

४. क्षयत्व रसायनों से– क. तेजाब जैसे– सल्फ्यूरिक, नाइट्रिक या हाइड्रोक्लोरिक।

ख. क्षार जैसे– कास्टिक सोडा (सज्जीखार), कास्टिक पोटाश, तेज अमोनिया या अनबुझा चूना।

५. खौलते पानी, भाप अनुपयुक्त रीति से लगाई गयी पुलटिस, गरम तेल या कोलतार से जले घाव।

जलने तथा झुलसने से प्रभाव एक सा ही पड़ता है। त्वचा लाल हो सकती है या गहरे तन्तु वर्गों को छति पहुँच सकती है। पीड़ा अधिक विषम होती है। सदमा का तत्काल भय रहता है। जो तीव्र हो सकता है और अधिक पीड़ा से या प्लाज्मा के घाव में निकल जाने से बढ़ जाता है। बाद में छूत लग जाने का भय रहता है।

ज्ले तथा झुलसे स्थान तथा वह वस्त्र जो जल गये हों वह कुछ समय के लिए कीटाणु रहित होते हैं और सभी प्रयत्न यही करने चाहिए कि जब तक चिकित्सा सहायता उपलब्ध नहीं हो जाती ऐसे ही रहे। यदि हो सके तो तैयार की हुई कीटाणु रहित मरहम पट्टी का ही प्रयोग सदा करना चाहिए और उनको छूने तथा लगाने में अधिक सावधानी बरतनी चाहिए।

जले हुए घाव से भय उसके क्षेत्र वर्ग के ऊपर निर्भर है (चाहे केवल त्वचा की ऊपरी पर्त ही जली हो) और यदि त्वचा का एक तिहाई भाग जल गया हो तो रोगी भयानक रूप से बीमार हो सकता है। छोटे बच्चों तथा विशेषकर एक साल तक की आयु के बच्चों में छोटे जले स्थान भी विषम घाव मानना चाहिए और बिना समय नष्ट किये चिकित्सा सहायता का प्रबन्ध करना चाहिए।

जब किसी व्यक्ति के वस्त्रों को आग लग गयी हो, तो उसके पास कम्बल, कोट या मेजपोश हाथ में लेकर जाएँ जिसे अपने सामने फैला लें, ताकि आप बचे रहें। फिर उन्हें रोगी के गिर्द लपेट कर सीधा लिटा दें, ताकि आग की ज्वाला बुझ जाये।

यदि किसी व्यक्ति के वस्त्रों को आग लग जाय, जब वह अकेला हो तो उसे भूमि पर लेट कर लोटना चाहिए और जो सबसे निकट लपेटने की वस्तु उपलब्ध हो, उससे ज्वाला को बुझा डालें और सहायता के लिए आवाज लगाएँ। उसे कभी भी खुली हवा में भाग कर न जाना चाहिए। अग्नि बचाव साधनों का प्रयोग करने से घर में कई संकट घटनाएँ बच सकती हैं।

### जलने तथा झुलसने पर उपचार के साधारण नियम

१. जले हुए भाग को आवश्यकता से अधिक हाथ मत लगाइये। अपने हाथों को धोकर जितना साफ कर सकें कर लीजिए।

२. किसी प्रकार के लोशन मत लगाइये।

३. जले हुए वस्त्र मत उतारिये तथा न ही छालों को फोड़िये।

४. यदि हो सके तो एक तैयार की हुई सूखी कीटाणु रहित मरहम पट्टी से अथवा साफ लिन्ट, ताजा धुले वस्त्र या किसी ऐसे ही पदार्थ से जले हुए क्षेत्र को ढक दीजिए।

५. शरीर का थोड़ा अंग जला हो तो उस पर कोई मोटा कपड़ा लेकर, उसे ठंडे पाने से भिगोकर जले भाग पर रख दें और ठण्डे पानी में नमक डालकर घोल बना कर वह पानी सतत उस पर आधा या एक घण्टे तक थोड़े-थोड़े समय के अंतर में डालते रहें, बर्फ का पानी मिले तो वह डालते रहें।

६. हाथ या पैर अधिक जल गया हो तो किसी गहरे बर्तन में नमक के ठण्डे पानी का घोल तेयार करें। हाथ व पैर का जला हुआ भाग उस गहरे बर्तन में समा जाय व ठण्ढे पानी के नमक के घोल में डूबा रहे, पानी गरम होने पर तुरन्त पानी बदल देना चाहिए। यह प्रक्रिया एक या डेढ़ घण्टे तक करें।

७. हाथ–पैर के अलावा शरीर के अन्य भाग अधिक जल गया हो तो धोती या साड़ी को ठण्डे पानी में घुले नमक से भिंगोकर उससे लपेट दें तथा ठण्डे पानी के नमक के घोल की सतत धार एक या डेढ़ घण्टे तक प्रवाहित करते रहें।

८. जले हुए भाग को स्थिर कर दीजिए।

९. सदमा (आघात) का उपचार कीजिए।

१०. अधिक जलने पर रोगी को शीघ्रातिशीघ्र चिकित्सालय ले जाएँ। घायल को शायद चेतना–शून्य करने की औषधि देनी पड़े, इसलिए मुँह द्वारा प्रायः कुछ नहीं देना चाहिए। यदि कम से कम ४ घण्टे तक चिकित्सा सहायता न मिल सके तो दो गिलास पानी में आधा छोटा चम्मच लवण डालकर तथा प्रायः आधा चम्मच सोडाबाई कार्बोनेट यदि उपलब्ध हो तो वह भी डाल कर पिलाइये।

११. मामूली प्रकरण में अधिक मात्रा में गरम–तरल पदार्थ दें और अच्छा तो यही है कि मन्द चाय को चीनी से मीठी करके दें।

## क्षयत्व रसायनों से जले घावों का उपचार

**क. जब क्षयत्व रसायन तेजाब हो तो–**

१. उस भाग को पानी से भली प्रकार धो दें।

२. उस भाग को अधिक क्षार से नहला दें, जैसे दो चाय के चम्मच (या एक बड़ा चम्मच) बेकिंग सोडा (सोडा बाईकार्बोनेट) या वाशिंग सोडा (सोडा कार्ब) एक पाइन्ट गरम पानी में डाल कर।

३. जले घावों के उपचार के सामान्य नियमों का पालन करें। परन्तु दूषित वस्त्रों को जितनी जल्दी हो सके उतार दीजिए; ताकि और अधिक हानि न पहुँच सके। सावधानी से कार्य कीजिए; ताकि आप स्वयं दूषित वस्त्रों के छूने से न जल जाएँ।

**ख. जब क्षयत्व रसायन क्षार हो तो–**

१. यदि चूने से जल गया हो तो ब्रुश से जो भाग ऊपर पड़ा हो निकाल दें।

२. भली प्रकार से पानी से धो डालें।

३. तेजाब के मन्द घुलाव से भाग को भली प्रकार नहला दें। जैसे कि सिरका या नींबू के रस को उतनी ही मात्रा में पानी में डाल कर।

४. जलने पर उपचार के सामान्य नियमों का पालन कीजिए; परन्तु दूषित वस्त्रों को तत्काल उतार दीजिए और पूरी सावधानी से कार्य कीजिए।

५. नेत्र में क्षयत्व तेजाब या क्षार की शंका हो तो रोगी को कहें की अपनी पलकों को पानी में झपके या फिर अधिक मात्रा में पानी में आँखों को धो

डाले। उसकी आँखों पर नर्म रुई की गद्दी लगाकर किसी शेड से या हल्की सी पट्टी बाँधकर स्थिर कर दें और उसे चिकित्सा तुरन्त दिलाएँ।

## जल में डूबने की चिकित्सा

किंचित् भी विलम्ब न करके व्यक्ति की तत्क्षण चिकित्सा प्रारम्भ कर देनी चाहिए। यदि उसके मुख और नासिका में कीचड़ आदि भरा हो तो उसे शीघ्रता से निकाल देना चाहिए। वस्त्रों को ढीला कर देना चाहिए। जिह्वा को बाहर की ओर किंचित खींच लेना चाहिए। शरीर को वस्त्र से पोंछ कर शुष्क कर देना चाहिए। यदि श्वास क्रिया धीरे–धीरे हो रही हो तो अमोनिया सुँघानी चाहिए। विद्युत स्पर्श क्रिया करनी चाहिए। वक्ष और मुख पर शीत और उष्ण जल की क्रमशः धार छोड़नी चाहिए।

यदि श्वास क्रिया पूर्णतया अवरूद्ध हो तो कृत्रिम श्वास क्रिया करनी चाहिए। इनमें शेफर की विधि से कृत्रिम श्वास देना उत्तम है। यह क्रिया एक घण्टे तक करना चाहिए।

जब श्वास क्रिया सम्यक तथा संचारित होने लगे तब रोगी को कम्बलों से ढक देना चाहिए, बिस्तर पर लिटाकर उसके चारों ओर उष्णोदक से भरी बोतलें लगा देनी चाहिए और उष्णोदक या उष्णदुग्ध देना चाहिए।

## सर्प दंश

अधिकांश साँप के काटने से मनुष्य मरता नहीं, परन्तु उनसे लोग अधिक डरते हैं। यद्यपि संसार में लगभग १७०० प्रकार के साँप हैं, जो अधिकांश ग्रीष्म देशों में हैं, उनमें से केवल ३५० ही विषैले हैं। साधारण रूप से साँप मनुष्य से उतना ही दूर रहना चाहते हैं, जितना मनुष्य उनसे। जब तक कि उन पर पैर न रखा जाए या उनका रास्ता न रुक जाय वह मनुष्य को नहीं काटते। इनमें सबसे भयानक कोबरा, क्रेट, सागर साँप, कुछ प्रकार के पेड़ों के साँप तथा नोकदार और रस्सल वाइपर होते हैं।

विषहीन साँप के काटने पर भय से सदमा लगकर मनुष्य की मृत्यु होती है, अतः घायल को भयहीन करना आवश्यक है। यदि साँप को मार दिया गया हो तो उसे पहिचानने के लिए सँभाल लेना चाहिए।

**सर्पदंश प्राथमिक चिकित्सा–** १. दंश स्थान से ऊपर हृदय की ओर तत्काल एक या दो बन्ध कसकर बाँध देना चाहिए।

२. पोटैशियम परमैंग्रेट घोल से, यदि उपलब्ध हो तो उससे धो देना चाहिए। तदन्तर दंश स्थान को चीरकर समीपस्थ भागों को दबाकर रक्त निकाल देना चाहिए और उसमें पोटैशियम परमैग्रेट भर देना चाहिए।

३. केवल संकट में जब ऊपरी नियम नहीं लगाए जा सकते तो घाव को चूसकर विष को थूक दीजिए, यह विधि खतरनाक है। यदि हो सके तो किसी पतले रबड़ के टुकड़े या पॉलिथीन के टुकड़े में से चूसिए।

४. घायल को पूर्ण विश्राम में रखिए।

५. घायल को गरम चाय या कॉफी दीजिए तथा उसे गरम रखिए।

६. यदि श्वास क्रिया न्यून हो जाय, तो कृत्रिम श्वास क्रिया दीजिए।

७. साँप काटने पर ६ ग्राम की मात्रा में तम्बाकू को १ लीटर पानी में मसलकर छान लें और आधा पानी पिला दें। यदि उल्टी तथा दस्त न हो तो बचा हुआ पानी पिला देना चाहिए और काटे हुए भाग के ऊपर डोरी बाँध देनी चाहिए।

८. श्वेत अर्क (मदार) की मूल का छाल ३ माशा (३ ग्राम) पीस कर पिलायें।

९. एन्टीवेनम इंजेक्शन के लिए तुरन्त अस्पताल पहुँचाएँ।

**वृश्चिक दंश चिकित्सा**– १. दंश स्थान के ऊपर हृदय प्रदेश के पास वाले भाग में तत्काल एक या दो बंध बाँध देना चाहिए।

२. दंश स्थान को चीरकर समीपस्थ भागों को दबाकर रक्त निकाल देना चाहिए।

३. नौसादर, चूना और सुहागा मिलाकर सूँघने से बिच्छू का विष नष्ट हो जाता है। काटे हुए भाग पर नींबू का रस नमक में मिलाकर लगायें।

## कुत्ते के काटने पर

पागल कुत्ते के काटने पर काटे हुए भाग को पोटैशियम परमैंगनेट के घोल से धो देना चाहिए, पोटेशियम परमैंगनेट उपलब्ध न हों तो साबुन से धो देना चाहिए।

२. कटे भाग को नीचा करके रखिए।

३. यदि चिकित्सक की सेवाएँ तुरन्त उपलब्ध न हो सके तो घाव को कारबोलिक या नाइट्रिक एसिड किसी लकड़ी के नुकीले टुकड़े पर लगाकर घाव पर लगाना चाहिए, प्रत्येक दाँत के काटे निशान में इन तीलियों को डालें और प्रत्येक को बारी–बारी दाग दें; क्योंकि इससे वाइरस नष्ट किए जा सकते हैं। यदि आधे घण्टे से अधिक हो चुका है, जब से कुत्ते ने काटा है, तो दागना नहीं चाहिए।

४. सूखी मरहम पट्टी करें।

५. १ ग्राम काली मिर्च चूर्ण १२ ग्राम घी में मिलाकर प्रातः खाली पेट दें, १० दिन तक दें व १० दिन मीठा खाने के लिए न दें।

६. पागल कुत्ते को अत्यन्त सावधानी पूर्वक कस कर बाँध देना चाहिए। यदि परेशानी हो तो मार देना चाहिए।

## श्वासावरोध

१. गलाघोंटना– जो फीता व रस्सी का टुकड़ा गले को घोंट रहा है, उसे काट कर हटा देना चाहिए।

२. गले में फंदे से लटकना– निचले अंगों को पकड़कर शरीर को ऊपर उठा दीजिए। गले की रस्सी काटकर या ढीली करके छुड़ा दें। किसी सिपाही की प्रतीक्षा न करें।

३. गले में किसी वस्तु के अटकने से दम घुटना– अटकी हुई वस्तु को अपने स्थान से हटाने के लिए पीड़ित व्यक्ति के सिर को मोड़कर कन्धे को आगे झुका दीजिए या एक छोटा बच्चा पीड़ित हो, तो उसे उलटा करके पकड़ लें और उसकी पीठ पर कन्धों के फलों के बीच जोर–जोर से थपथपाएँ। यदि उससे सफलता न हो तो पीड़ित के गले में दो अंगुलियाँ पीछे की तरफ डालकर वमन करवाएँ।

गले में तन्तुओं का सूजन– यदि श्वास क्रिया बन्द न हुई हो या उसे पुनः स्थापित कर दिया गया हो तो बरफ चूसने के लिए दें या ठण्डा पानी धीरे–धीरे पीने को दें। मक्खन, जैतून का तेल या औषधि पैराफिन भी दिये जा सकते हैं।

धुँए से दम घुटना– अपने आपको धुँए से बचाने के लिए अपने मुँह तथा नाक के ऊपर एक तौलिया, रुमाल या कपड़ा हो सके तो गीला करके बाँध लेना चाहिए। जमीन से सटकर चलते हुए पीड़ित को जितनी जल्दी हो सके वहाँ से हटा देना चाहिए।

## विद्युत आघात

शरीर को विद्युत शक्ति की धारा लग जाने से विषम क्षति पहुँच सकती है। ऐसा नंगी तथा विद्युत शक्ति से लदी तारों तथा लोहे की रेलों को छू जाने से या बादलों से बिजली गिरने के कारण भी हो सकता है। उसका तत्काल प्रभाव आघात का होता है, जो हल्का भी हो सकता है या इतना विषम कि मृत्यु कर दे। परन्तु इसका आधार विद्युत की धारा की शक्ति पर है और इस पर भी कि शरीर से होकर भूमि तक पहुँचने में वह किस मार्ग से निकलती है। एक और इसका परिणाम 'जलना' होता है और जले हुए घाव विषम हो सकते हैं तथा गहरे भी, विशेषकर जब वोल्टेज शक्ति अधिक हो।

विद्युत घाव इन परिस्थितियों में हो सकते हैं–

क. घरों तथा कार्यालयों में, घरेलू उपकरणों से जिनकी वोल्टेज ४५० तक है।

ख. कारखानों में जहाँ यन्त्र १,१०० से अधिक वोल्टेज के हैं।

ग. विद्युत से लदी रेल–जिसका वोल्टेज १,००० के निकट है।

घ. खम्भों पर टंगी तारों से जिनकी वोल्टेज एक लाख से भी अधिक होती है।

च. बादलों से बिजली जिसकी शक्ति को मापना असम्भव है जो कई लाख वोल्टेज की हो सकती है।

पारी–पारी विद्युत प्रवाह (ए.सी.) सीधे विद्युत प्रवाह (डी.सी.) से अधिक भयानक होती है; क्योंकि वह मांस पेशियों को एक आवेश में डाल देती है। जिससे पीड़ित व्यक्ति प्रवाह के साथ चिपक जाता है।

विद्युत प्रवाह की शक्ति से भी अधिक महत्त्व की बात है कि वह कौन सा मार्ग अपनाकर भूमि तक पहुँचती है। इसलिए अधिक प्रबल प्रवाह जो टांगों में से होकर भूमि तक पहुँचता है, उस मन्द प्रवाह की अपेक्षा में कम भयानक हो सकता है, जो छाती में से होकर निकलता है। छाती से वह तब निकलेगा जब वह हाथों तथा बाजुओं से प्रवेश पाएगा। इन प्रकरणों में हृदय तुरन्त शक्तिहीन हो सकता है या श्वास क्रिया के पक्षाघात से एकाएक श्वास बंद हो सकता है, जिन कारणों से मृत्यु हो सकती है। यदि हृदय तथा रक्त परिभ्रमण पर नियंत्रण रखने वाला स्नायुकेन्द्र बच जाय तो यद्यपि श्वास बंद भी हो गया हो तो भी हृदय कार्य करता जाता है। इस कारण विद्युत क्षति में चेहरा नीला पड़ जाता है। कृत्रिम श्वास–क्रिया को अधिक लम्बे काल तक देते रहना पड़ता है। जब तक हृदय चल रहा है जीवन बचाया जा सकता है।

**प्रथमोपचार**– विद्युत आघात एक मृत्यु तुल्य संकट दशा है, जिसके लिए शीघ्रता तथा बुद्धिमत्ता की आवश्यकता है। शीघ्र ही कार्य करना चाहिए यदि घायल का जीवन बचाना हो।

१. विद्युत प्रवाह को बटन दबाकर बन्द कर दीजिए। यदि बिजली का बटन तुरन्त दिखाई न पड़े और प्रवाह किसी लचकदार तार द्वारा है तो प्रवाह को काटने के लिए उसका प्लग उतार दीजिए या तारों को काट दीजिए या उन्हें नोच लीजिए। तारों को चाकू या कैंची से काटने का प्रयत्न न कीजिए।

२. यदि बटन बन्द करना या प्रवाह काटना असम्भव हो तो घायल को प्रवाह के सम्पर्क से हटा लीजिए। इसमें अधिकाधिक सावधानी की आवश्यकता है, विद्युत अवरोधक सामग्री ही प्रयोग में लानी चाहिए और वह सूखी होनी चाहिए। साधारण घरेलू यंत्रों के लिए तो रबड़ के दस्ताने अच्छे हैं और कोई सूखी टोपी, कोट या अन्य वस्त्र अथवा तह लगाया समाचार पत्र पर्याप्त बचाव कर सकते हैं। यदि हो सके तो बचाने वाले को किसी विद्युत अवरोधक वस्तु पर खड़े होना चाहिए, जैसे कि रबड़ के तले के जूते या बूट या समाचार पत्रों के ढेर पर या लकड़ी का पटा तख्ता।

३. यदि घायल प्राकृतिक श्वास न ले रहा हो तो उसे कृत्रिम श्वास दीजिए और यदि आवश्यकता हो तो ऐसा कई घण्टे किया जाना चाहिए।

४. आघात पर उपचार कीजिए।

५. जले हुए स्थान पर उपचार कीजिए।

६. चिकित्सालय में स्थानांतरण कर दीजिए या चिकित्सा सहायता माँगिये।

## आघात (सदमा)

आघात एक ऐसी शक्तिहीनता की अवस्था है, जिसमें कि शरीर की जीवनावश्यक क्रियाएँ सब मन्द पड़ जाती है। इसके साथ–साथ रक्त परिभ्रमण की पद्धति में स्थाई शक्तिहीनता से पूर्ण न्यूनता तक परिवर्तन हो जाता है। इसकी विषमता चोट की प्रकृति तथा विस्तार पर निर्भर है और विषम चोटों में यही मृत्यु का सामान्य कारण बन जाती है।

आघात तुरन्त हो सकता है या उसका आरम्भ कुछ समय बाद होता है। यह याद रखना आवश्यक है कि यह देर इस कारण हो सकती है कि इसके चिह्न तथा लक्षणों के प्रत्यक्ष न होने से सुरक्षा का झूठा सन्तोष हो जाता है या चोट लग जाने से जो प्रभाव पड़ा हो उसको कम समझा गया हो।

समूह रक्त या प्लाज्मा के निकल जाने से जो घाटा हो जाता है, वही आघात का सबसे बड़ा कारण बन जाता है। जलने को छोड़कर शेष अधिकांश चोटों के तुरन्त बाद जो विषम आघात होता है वह बहुधा सदा तन्तु वर्ग में या शरीर के खोहों में रक्त प्रवाह हो जाने से होता है। जल जाने से अधिक प्लाज्मा तन्तुवर्ग में चले जाने से रक्त में उसकी कमी हो जाती है।

आघात की विषमता रक्तस्राव की मात्रा तथा शीघ्रता पर निर्भर करती है। पहले–पहल तो रक्त परिभ्रमण पद्धति इस रक्त के घाटे को निपटा लेती है

और कार्य कुछ न कुछ ठीक रूप से करती है। परन्तु घायल की परिस्थिति अधिक शोचनीय होती जाती है जब तक कि रक्त प्रवाह बन्द न किया जाय तथा रक्त घनफल को रक्त दान से पूरा न किया जाय।

**आघात के भेद–** १. स्नायु सम्बन्धी आघात, २. प्रतिष्ठित आघात

**आघात के सामान्य चिह्न तथा लक्षण–** यह अस्थाई शिथिलता से लेकर क्षय अवस्था तक हो सकते हैं

१. चक्कर तथा शिथिलता।

२. ठण्डापन।

३. वमन की इच्छा होना।

४. पीलापन।

५. ठण्डी गीली चमड़ी।

६. पहले धमनी की धड़कन धीरे हो जाती है; परन्तु फिर वह क्षीण तथा तेज होती चली जाती है।

७. वमन।

८. अचेत अवस्था।

**१. स्नायु सम्बन्धित आघात–** यूँ तो सभी प्रकार के आघात में स्नायु प्रतिक्रिया होती है; परन्तु एक ऐसा आघात भी है जो केवल स्नायु सम्बन्धित कारणों से होता है। इसका रक्त परिभ्रमण पर ऐसा प्रभाव पड़ता है, जिससे रक्तदबाव (रक्तभार) गिर जाता है, परन्तु इसका सम्बन्ध रक्त घनफल के घटने से नहीं।

**प्रतिष्ठित आघात–** वह घायल जिनकों छोटी चोटों की अपेक्षा में कुछ अधिक बड़ी चोटें लगी हैं, उनकी अधिक विषम परिस्थिति, जिसे प्रतिष्ठित आघात कहते हैं। इसकी आशा तभी हो जाती है जब प्रत्यक्ष बड़ी चोटें होती हैं; किन्तु जब घाव गहरे हों और रक्तस्राव गुप्त हो तो घायल की दशा उतनी ही भयानक होती है।

यदि परिभ्रमण में न्यूनता आए तो आघात बढ़ जायेगा, जिससे प्रतिष्ठित आघात के चिह्न तथा लक्षण दिखाई पड़ने लगेंगे, जिनका वर्णन ऊपर किया गया है, परन्तु अधिक विषम हो जाते हैं और घायल व्यक्ति का रंग धूसर भूरा हो जाता है। रोगी का क्षीण होना और अधिक दिखाई पड़ेगा तब धमनी की धड़कन अधिक न्यून हो जायगी।

## आघात का सामान्य प्रथमोपचार

१. रोगी को भयहीन कीजिए।

२. उसे पीठ के बल लिटाकर सिर नीचा तथा एक ओर झुका दें, जब तक कि सिर, पेट या छाती पर चोट न लगी हो इन दशाओं में सिर तथा कन्धों को थोड़ा सा उठा कर सहारा दे दीजिए। यदि उसने कै कर दी हो या जब श्वास क्रिया में कुछ रुकावट पड़ रही हो तो उसे तीन चौथाई अधोमुख अवस्था में कर दीजिए।

३. गर्दन, छाती तथा कमर के आस–पास वस्त्र ढीले कर दें।

४. कम्बल या पट्ट में उसे लपेट दें।

५. यदि प्यास लगे तो उसे पानी के घूँट, चाय, काफी तथा अन्य तरल पदार्थ दिये जा सकते हैं, परन्तु मद्यसार न देना चाहिए।

६. भुजाओं–अंगों को गरमी न लगाइए न ही रगड़िये। गरम पानी की बोतलें प्रयोग में न लाइए।

## प्रतिष्ठित आघात का विशेष उपचार

उपरोक्त सामान्य उपचार के अलावा विषम प्रकरणों में रक्तदान तथा शल्य क्रिया से जीवन बचाने के लिए तुरन्त बड़े चिकित्सालय में भेजने की व्यवस्था करनी चाहिए। लेकिन सामान्य उपचार करने में देरी नहीं करनी चाहिए। जैसे श्वास क्रिया की न्यूनता का उपचार या विषम प्रवाह को रोकने का उपचार या छाती के चूसक घाव की पट्टी करने का उपचार या बुरी तरह टूटी हड्डी की पट्टी करने का उपचार, इन प्रथमोपचार को तुरन्त करें, देरी न करें व उसे तुरन्त अस्पताल भिजवायें। मुँह द्वारा कुछ भी मत दीजिए (घायल को चेतना शून्य करने की औषधि देनी पड़ सकती है।)

## व्रणोपचार

शरीर के स्नायुओं की रचना टूट जाने से घाव हो जाता है, जिसमें से रक्त बहता है तथा रोग फैलाने वाले कीटाणु और अन्य बाहरी हानिकारक पदार्थ शरीर में पहुँचने लगते हैं।

घाव– १. कटे घाव– यह घाव तेज छुरी आदि हथियारों के लगने से होते हैं और रक्तवाहक नलियों के साफ कट जाने से इनसे रक्त बहने लगता है।

२. चिथरे घाव– इन घावों के किनारे फटे टेढ़े–मेढ़े होते हैं। यह घाव मशीन के कल–पुर्जों से, काँच के टुकड़ों तथा पशुओं के पंजों से हो जाते हैं। कटे घावों की अपेक्षा इन घावों से कम रक्त बहता है, क्योंकि इनकी रक्तवाहक नलियाँ चिंथरी–चिथरी रहती हैं।

३. **कुचले घाव**– किसी गुठिले हथियार के लगने से अथवा कुचले जाने से ऐसे घाव होते हैं। इन घावों में अंग कुचल जाता है।

४. **छिदे घाव**– इन घावों में दूसरे घावों की अपेक्षा बहुत छोटे–छोटे छिद्र होते हैं। यह घाव बहुत गहरे होते हैं और इनके होने का कारण संगीन, सूई, चाकू आदि जैसे– तेज नुकीले हथियारों का लगना।

**तात्कालिक चिकित्सा**– छूत को रोकने के लिए स्वच्छता अत्यन्त आवश्यक है, इसलिए घाव से छूने वाली प्रत्येक वस्तु जैसे हाथ, त्वचा, पट्टियाँ तथा औषधि इत्यादि को साफ रखना अत्यन्त आवश्यक है। हाथ, साबुन, पानी तथा नख ब्रुश से रगड़ कर उत्तम रीति से साफ होते हैं। पानी को पूर्णरूप से कीटाणु रहित करने के लिए उसे २० मिनट के लिए उबाल लेना आवश्यक है।

## रक्तस्राव के साथ–साथ घावों के उपचार के साधारण नियम

१. रोगी को अनुकूल आसन में रखिए। ध्यान रहे कि बैठे तथा लेटे अवस्था में रक्तस्राव कम हो।

२. रक्त बहते हुए अंग को (सिवाय अस्थिभंग के) थोड़ा ऊपर उठा कर रखिए।

३. घाव को जहाँ तक हो सके कम से कम वस्त्र उतार कर खुला कर दें।

४. यदि घाव के ऊपर रक्त के थक्के बन चुके हों तो उन्हें न छेड़िये।

५. घाव में यदि कोई बाहरी वस्तु दिखाई पड़े जो सरलता से हटाई या साफ पट्टी से उठाई जा सके तो हटा दीजिए।

६. दबाव डालिए तथा उसे बनाए रखिए। क. सीधा, ख. अप्रत्यक्ष रूप से।

७. मरहमपट्टी गद्दी तथा पट्टी लगा दीजिए।

८. घायल भाग को स्थिर कर दीजिए।

जब घाव जोड़ के निकट हो तो जोड़ को भी यदि आवश्यक हो तो कमठियाँ लगाकर स्थिर कर दें जैसे कि घुटना।

## उपचार

**दग्धव्रण** – तिल तैल+ चूना पानी।
अलसी तैल+ चूना पानी।
घृतकुमारी गूदा बाँधें।

| | |
|---|---|
| नाड़ी व्रण – | निर्गुण्डी तैल। |
| व्रणरोपण – | शरपुङ्खा पुल्टिस। |
| | निम्बपत्र पुल्टिस। |
| | निम्ब छाल पीसकर शुद्ध मधु व गोघृत की ड्रेसिंग। |

**विद्रधि विठाने के लिए–**

अमृता आधा चम्मच,
निर्गुण्डी आधा चम्मच,
सारिवा आधा चम्मच।

अश्वगंधा के पत्र को पीस कर बाँध दें। बरफ का सेंक करें।

| | |
|---|---|
| सुहागा | १० ग्राम |
| कपड़े से छना आटा या मैदा | ५० ग्राम |
| घृत | १० ग्राम |
| शर्करा | २० ग्राम |

पकाकर लेई जैसी बनाकर पुल्टिस बाँधें।



# सामान्य रोग एवं चिकित्सा

## संदर्भ ग्रन्थों की सूची


१) माधव निदान– प्रथम, द्वितीय भाग — वैद्य श्री सुदर्शन शास्त्री

२) आयुर्वेदीय विकृति विज्ञान — डॉ. विद्याधर शुक्ल।

३) आयुर्वेदीय औषधियाँ एवं सामान्य घरेलु उपचार — केन्द्रिय आयुर्वेद एवं सिद्ध अनुसंधान परिषद् (स्वास्थ्य एवं परिवार– कल्याण, भारत सरकार, नई दिल्ली।)

४) आयुर्वेद विकास– रक्तचाप विशेषांक — (डाबर द्वारा प्रकाशित)

५) उदर रोग निदान चिकित्सा — सुधानिधि विशेषांक, प्रथम व द्वितीय

६) एड्स (रोग) चिकित्सा — डॉ. अलीज अमरोहवी

७) प्राथमिक उपचार– (प्रकाशक– सेंट जोन एम्बुलैन्स एसोसिएशन)